पयस्विनी: विचार, समाज और संवाद

पयस्विनी

विचार, समाज और संवाद

(जगदीश प्रसाद मण्डल की 'पयस्विनी' का आलोचनात्मक अध्ययन)

डॉ. उमेश मण्डल

हिंदी अनुवाद:

पल्लवी मण्डल

पल्लवी प्रकाशन
बेरमा/निर्मली

Payasvinee: Ideas, Society and Dialogue

A Critical Study of Jagdish Prasad Mandal's 'Payasvinee'
Original Author: Dr Umesh Mandal
Hindi Translation: Ms Pallavi Mandal

This book is a critical study of Jagdish Prasad Mandal's important prose work, 'Payasvinee'. It looks at the essays, ideas, replies and public discussions included in 'Payasvinee' together. The book mainly focuses on ideas related to society, culture, language and human dignity.
This study offers a simple analysis of the philosophical questions raised in 'Avatarvaad', the cultural features of 'Sanskar Aur Sanskar Geet', the questions of social inequality present in 'Varchasvavaadi Sanskriti Banaam Haashiye Ke Samaaj Ka Sangharsh', and the views expressed by Mandalji in the question-answer and dialogue sections.
Through all these aspects, 'Payasvinee' emerges as an important work connected with ideas, resistance, folk consciousness and literary responsibility. This book helps readers understand Mandalji's fiction as well as his public thought.

Published by: Pallavi Prakashan
Tulsi Bhawan, Nehru Marg, Ward no. 06, Nirmali, District: Supaul, Bihar: 847452

First Edition: 2026
ISBN: 978-93-48865-55-7
Price: 299/-
Copyright: © Publisher

Printed by: Manav Art (Pallavi Prakashan)
Typesetting: Pallavi Mandal
Cover Design: Mrs. Poonam Mandal, Nirmali, Supaul, Bihar- 847452

Website: http://pallavipublication.blogspot.com
Email: pallavi.publication.nirmali@gmail.com
Mobile: +91 99316 54742, +91 62006 35563
Font Source: Google Fonts

All rights reserved. No part of this book may be reproduced, distributed, transmitted, adapted, paraphrased, stored in a retrieval system, or processed in any form or by any means, including electronic, mechanical, digital, or artificial intelligence systems, without the prior written permission of the copyright holder or the publisher.

अनुक्रम:

दो शब्द

भूमिका

1. पयस्विनी का स्वरूप, रचना-प्रसंग और विधागत संरचना

2. पयस्विनी में दार्शनिक प्रश्न, तर्कशील दृष्टि और वैचारिक प्रतिपक्ष

3. पयस्विनी में संस्कृति, संस्कार, लोकजीवन और लोक-चेतना

4. पयस्विनी में हाशिये का समाज, वर्चस्व-विमर्श और सामाजिक प्रतिरोध

5. पयस्विनी में साहित्यिक-सांस्कृतिक सक्रियता और सार्वजनिक लेखन

6. प्रश्नोत्तर और परिसंवाद में उद्घाटित मण्डलजी का व्यक्तित्व

7. पयस्विनी के आलोक में जगदीश प्रसाद मण्डलजी का वैचारिक व्यक्तित्व

8. पयस्विनी की भाषा, शैली, तर्क-पद्धति और गद्य-सौष्ठव

9. पयस्विनी का रचना-शिल्प, विन्यास और अभिव्यक्ति-कौशल

10. जगदीश प्रसाद मण्डलजी की समग्र रचनाधर्मिता में पयस्विनी का स्थान

उपसंहार

समर्पण

उस मौन लोकजीवन को,
जो जगदीश प्रसाद मण्डलजी के साहित्य में अपनी आवाज़ पाता है।

उस मिट्टी, श्रम और मनुष्य की गरिमा को,
जो उनकी रचना का मूल आधार है।

दो शब्द

✳

अनुवाद मेरे लिए केवल एक भाषा के शब्दों को दूसरी भाषा के शब्दों में बदल देने की प्रक्रिया नहीं है। वह दो भाषाओं, दो साहित्यिक संसारों और दो पाठक-समुदायों के बीच संवाद का एक सजीव माध्यम है। प्रत्येक भाषा अपने भीतर एक विशिष्ट सांस्कृतिक अनुभव, जीवन-दृष्टि, संवेदना और विचार-परंपरा को सँजोए रहती है। जब किसी रचना का दूसरी भाषा में अनुवाद होता है, तब केवल उसका कथ्य ही नई भाषा तक नहीं पहुँचता, उसके साथ एक समाज का अनुभव, उसकी स्मृति, उसके प्रश्न और उसकी वैचारिक चेतना भी नए पाठक-समुदाय के सामने उपस्थित होती है। इसी कारण भाषाओं के बीच साहित्यिक संवाद मुझे अत्यंत आवश्यक लगता है।

मैथिली और हिंदी का संबंध ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक निकटता का है, फिर भी दोनों भाषाओं का अपना स्वतंत्र साहित्यिक व्यक्तित्व है। मैथिली में जो कुछ महत्त्वपूर्ण लिखा जा रहा है, उसका एक बड़ा भाग भाषिक सीमा के कारण व्यापक हिंदी पाठक-समाज तक नहीं पहुँच पाता। दूसरी ओर हिंदी का विशाल पाठक-वर्ग भारतीय भाषाओं में विकसित हो रही अनेक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक और वैचारिक धाराओं से तभी परिचित हो सकता है, जब उनके बीच अनुवाद का सक्रिय सेतु बने। मेरे लिए अनुवाद की आवश्यकता यहीं से आरंभ होती है। किसी भाषा की विशिष्टता को दूसरी भाषा में विलीन कर देना अनुवाद का उद्देश्य नहीं होना चाहिए। उसके मूल स्वर और सांस्कृतिक पहचान को सुरक्षित रखते हुए उसे नए पाठक तक पहुँचाना ही अनुवाद की वास्तविक सार्थकता है।

प्रस्तुत पुस्तक 'पयस्विनी: विचार, समाज और संवाद' इसी विश्वास

के साथ हिंदी में प्रस्तुत की जा रही है। यह किसी एक पुस्तक का सामान्य परिचय अथवा सार-संक्षेप नहीं है। डॉ. उमेश मण्डल ने जगदीश प्रसाद मण्डल की 'पयस्विनी' को केंद्र में रखकर उसके वैचारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक और साहित्यिक पक्षों का क्रमबद्ध अध्ययन किया है। मूल 'पयस्विनी' में शोधपरक लेख, वैचारिक निबंध, सांस्कृतिक टिप्पणियाँ, सार्वजनिक साहित्यिक प्रसंग, प्रश्नोत्तर और परिसंवाद जैसे विविध रूप उपस्थित हैं। प्रस्तुत अध्ययन इन अंशों को अलग-अलग सामग्री के रूप में देखने के बजाय उनके बीच सक्रिय वैचारिक संबंधों को पहचानने का प्रयास करता है। इस दृष्टि से यह पुस्तक 'पयस्विनी' के अध्ययन के साथ-साथ जगदीश प्रसाद मण्डल के चिंतन, साहित्य-दृष्टि और सामाजिक सरोकारों को समझने का भी एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बनती है।

शोधपरक और आलोचनात्मक साहित्य का महत्त्व मुझे इसलिए भी विशेष रूप से अनुभव होता है कि साहित्य केवल रचना से पूर्ण नहीं होता। रचना अपने भीतर अनुभव और विचार का संसार निर्मित करती है, जबकि आलोचना उस संसार के अर्थ, अंतर्संबंध और वैचारिक आधार को पहचानने में सहायता करती है। गंभीर आलोचना किसी रचना पर निर्णय सुनाने का कार्य नहीं करती, बल्कि उसके भीतर प्रवेश कर उन प्रश्नों और अर्थ-स्तरों को सामने लाती है, जो सामान्य पाठ में कभी-कभी हमारी दृष्टि से छूट जाते हैं। शोध इस आलोचनात्मक दृष्टि को प्रमाण, संदर्भ और पद्धति का अनुशासन प्रदान करता है। इस अर्थ में आलोचना भी साहित्यिक संस्कृति की एक आवश्यक और रचनात्मक प्रक्रिया है।

डॉ. उमेश मण्डल की अध्ययन-दृष्टि की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे मूल कृति का केवल वर्णन नहीं करते। वे पाठ को निकट से पढ़ते हैं, उसके भीतर उपस्थित प्रश्नों को पहचानते हैं, उनके सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों को खोलते हैं और फिर उन्हें लेखक की व्यापक रचनाधर्मिता से जोड़कर देखते हैं। पाठ-विश्लेषण, व्याख्या, संदर्भ और आलोचनात्मक परीक्षण का यह संयोजन पूरी पुस्तक में दिखाई देता है। फलतः अध्ययन केवल सूचना-संग्रह बनकर नहीं रह जाता, बल्कि एक

सुविचारित आलोचनात्मक पाठ का रूप ग्रहण करता है। विषय के प्रति लेखक की गंभीरता इस बात में भी दिखाई देती है कि किसी निष्कर्ष तक पहुँचने से पहले वे मूल पाठ, उसके संदर्भ और उसके तर्क-क्रम को पर्याप्त महत्त्व देते हैं।

इस पुस्तक में 'अवतारवाद' से संबंधित विवेचन ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया। संभवतः इसका कारण यह है कि यहाँ प्रश्न करने की प्रवृत्ति केवल किसी स्थापित धारणा का विरोध करने के लिए नहीं आती, बल्कि उसे विवेक की कसौटी पर परखने के लिए आती है। शास्त्रीय स्रोत, मिथकीय प्रसंग, इतिहास-बोध, नैतिक प्रश्न और मनुष्य की स्वतंत्र चेतना यहाँ एक ही वैचारिक धरातल पर विचार के विषय बनते हैं। ईश्वर, जीव, अवतार, हिंसा, छल, दया, शक्ति और मनुष्य के उत्तरदायित्व जैसे प्रश्नों पर जिस क्रम और गंभीरता से विचार किया गया है, वह पाठक को निष्क्रिय स्वीकार के स्थान पर सक्रिय चिंतन की ओर ले जाता है। इस विवेचन का वह पक्ष मुझे विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण लगा, जहाँ विचार का अंतिम आग्रह मनुष्य की गरिमा, आत्मबल, विवेक और नैतिक सक्रियता से जुड़ता है। किसी विचार से सहमत अथवा असहमत होना पाठक का अपना अधिकार है, किंतु किसी स्थापित धारणा को प्रश्न, प्रमाण और तर्क के साथ जाँचने की बौद्धिक स्वतंत्रता साहित्य और समाज, दोनों के लिए आवश्यक है। 'अवतारवाद' से संबंधित यह अध्ययन मुझे इसी स्वतंत्र विवेक का एक प्रभावशाली उदाहरण प्रतीत हुआ।

पुस्तक का विस्तार केवल दार्शनिक प्रश्नों तक सीमित नहीं है। संस्कार, संस्कार-गीत, लोक-संस्कृति, स्त्री की सांस्कृतिक भूमिका, सामाजिक विषमता, हाशिये के समाज का प्रश्न, साहित्य में प्रतिनिधित्व, सार्वजनिक साहित्यिक सक्रियता, भाषा, संवाद और रचनाकार की आत्मदृष्टि जैसे अनेक विषय इसके अध्ययन-क्षेत्र में आते हैं। इन सभी पक्षों को एक साथ देखने पर स्पष्ट होता है कि डॉ. उमेश मण्डल के लिए साहित्य जीवन से अलग कोई बौद्धिक उपक्रम नहीं है। उनके अध्ययन में साहित्य समाज, मनुष्य और समय के बीच सक्रिय संबंध के रूप में उपस्थित होता

है।

डॉ. उमेश मण्डल का साहित्यिक कार्य भी इसी संदर्भ में मेरे लिए महत्त्व रखता है। मैथिली भाषा-साहित्य में उनका लेखन केवल मौलिक रचना तक सीमित नहीं है। अध्ययन, शोध, आलोचना, संपादन और प्रकाशन से जुड़ी उनकी सक्रियता साहित्य को एक व्यापक सांस्कृतिक कर्म के रूप में देखने वाली दृष्टि से संबंधित है। उनकी किसी रचना के पीछे केवल तत्काल लेखन नहीं, बल्कि दीर्घ अध्ययन, पाठ से निरंतर संवाद और विषय को व्यवस्थित रूप से समझने का श्रम भी उपस्थित रहता है। प्रस्तुत पुस्तक का मूल आधार भी इसी अध्ययनशीलता और आलोचनात्मक साधना में निहित है।

मौलिक लेखन और अनुवाद, दोनों की अपनी स्वतंत्र सृजनात्मक गरिमा है, किंतु दोनों की भूमिकाएँ एक जैसी नहीं होतीं। मूल लेखक विचार की भूमि तैयार करता है, प्रश्न चुनता है, सामग्री एकत्र करता है, तर्क की संरचना निर्मित करता है और अपने अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष तक पहुँचता है। अनुवादक को पहले से निर्मित उस वैचारिक संसार को दूसरी भाषा में इस प्रकार पुनः उपस्थित करना होता है कि मूल आशय और चिंतन की संरचना सुरक्षित रहे। इसलिए इस पुस्तक के संदर्भ में डॉ. उमेश मण्डल का मौलिक लेखकीय श्रम आधारभूत है। मेरा अनुवाद उसी आधार पर खड़ा एक उत्तरदायी साहित्यिक प्रयास है। मैंने अनुवाद को कभी मूल लेखन के विकल्प के रूप में नहीं देखा, बल्कि मूल लेखक के विचार को एक नए भाषिक संसार तक पहुँचाने की प्रक्रिया के रूप में ग्रहण किया है।

आलोचनात्मक और शोधपरक गद्य का अनुवाद सहज कार्य नहीं है। कथा अथवा कविता में भाव और संवेदना से जुड़ी अपनी कठिनाइयाँ होती हैं, किंतु शोधपरक गद्य में एक शब्द की थोड़ी-सी असावधानी भी तर्क का अर्थ बदल सकती है। यहाँ केवल वाक्य का सामान्य आशय सुरक्षित रखना पर्याप्त नहीं होता। विचार का क्रम, प्रमाणों का संबंध, विश्लेषण की दिशा, पारिभाषिक शब्दावली और निष्कर्ष की सूक्ष्मता भी सुरक्षित रखनी पड़ती है। मैथिली और हिंदी निकट भाषाएँ हैं, इसलिए अनेक बार अनुवाद सहज

दिखाई देता है, किंतु यही निकटता अतिरिक्त सावधानी की माँग भी करती है। समान दिखाई देने वाले शब्दों की अर्थ-छाया भिन्न हो सकती है और मूल वाक्य को ज्यों का त्यों हिंदी में रख देने से अभिव्यक्ति कृत्रिम भी हो सकती है।

इस अनुवाद में मेरा प्रयास रहा है कि हिंदी अपनी स्वाभाविक गति और शुद्ध अभिव्यक्ति के साथ सामने आए, किंतु मूल विचार की कोई महत्त्वपूर्ण परत छूटने न पाए। मैंने यांत्रिक शब्दानुवाद से बचते हुए अर्थ, तर्क और अभिव्यक्ति की संगति को प्राथमिकता दी है। जहाँ मूल का कोई शब्द अथवा अवधारणा अपने सांस्कृतिक संदर्भ के कारण विशिष्ट है, वहाँ उसकी उस विशिष्टता को यथासंभव सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया है। भाषा को अनावश्यक रूप से कठिन बनाना भी मेरा उद्देश्य नहीं रहा, क्योंकि गंभीर विचार का अर्थ दुरूह भाषा नहीं होता। विचार की गंभीरता को बनाए रखते हुए यदि उसे स्पष्ट, सहज और स्वाभाविक हिंदी में प्रस्तुत किया जा सके, तो मैं इसे अनुवाद की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानती हूँ।

इस कार्य के दौरान मैंने अनुवाद को साहित्यिक उत्तरदायित्व के साथ-साथ एक प्रकार की सृजनात्मक साधना के रूप में भी अनुभव किया। किसी दूसरे लेखक के विचार को ध्यानपूर्वक पढ़ना, उसके आशय की तह तक पहुँचना और फिर उसी अर्थ को दूसरी भाषा में ऐसी अभिव्यक्ति देना कि उसका मूल स्वर सुरक्षित रहे, अपने-आप में एक गहन अभ्यास है। कई अनुच्छेदों का अनुवाद करते समय मुझे केवल उपयुक्त हिंदी शब्द ही नहीं खोजने पड़े, बल्कि यह भी समझना पड़ा कि लेखक ने किसी बात को उसी क्रम में क्यों रखा है और उसके पीछे विचार की कौन-सी कड़ी सक्रिय है। इस प्रक्रिया ने मुझे मूल पुस्तक को अधिक निकटता, अधिक धैर्य और अधिक गंभीरता से पढ़ने का अवसर दिया।

इसी क्रम में इस अनुवाद के साथ मेरा एक आत्मीय संबंध भी बनता गया। किसी विचार को उसकी मूल गरिमा के साथ दूसरी भाषा में व्यक्त कर पाने का संतोष अलग होता है। कई स्थानों पर हिंदी वाक्य पूरा होने के बाद मुझे लगा कि मूल विचार ने मानो एक नया भाषिक घर पा लिया है।

अनुवाद की प्रक्रिया में मिलने वाला यह साहित्यिक आनंद मेरे लिए इस कार्य की महत्त्वपूर्ण व्यक्तिगत उपलब्धियों में से एक है। इससे मेरा यह विश्वास और दृढ़ हुआ कि अनुवाद केवल किसी रचना को दूसरी भाषा में दोहराना नहीं है, बल्कि उसे गहराई से समझते हुए अपनी भाषा में उसके लिए एक उत्तरदायी और स्वाभाविक स्थान निर्मित करना है।

इस हिंदी अनुवाद का मूल उद्देश्य मैथिली के एक महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक अध्ययन को व्यापक पाठक-समाज तक पहुँचाना है। मुझे आशा है कि हिंदी के साहित्य-प्रेमी पाठक इसके माध्यम से जगदीश प्रसाद मण्डल के वैचारिक संसार और डॉ. उमेश मण्डल की आलोचनात्मक दृष्टि से अधिक निकटता से परिचित हो सकेंगे। साहित्य के विद्यार्थियों और शोधार्थियों के लिए भी यह पुस्तक उपयोगी हो सकती है, क्योंकि इसमें एक मूल कृति के स्वरूप, विचार, सामाजिक संदर्भ, भाषा, शैली, रचना-शिल्प और लेखक के व्यापक साहित्यिक व्यक्तित्व को एक साथ देखने का प्रयास किया गया है। मैथिली साहित्य, लोक-संस्कृति, सामाजिक विमर्श, साहित्यिक आलोचना और आधुनिक भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन में रुचि रखने वाले पाठकों को भी इसमें उपयोगी सामग्री मिल सकती है।

इस कार्य के पूर्ण होने पर मैं मूल लेखक डॉ. उमेश मण्डल के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। उनके विश्वास और मूल पाठ ने मुझे इस अनुवाद की भूमि प्रदान की। पुस्तक के निर्माण से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जुड़े सभी सहयोगियों के प्रति भी मैं आभारी हूँ। विशेष रूप से अपने माता-पिता के प्रति कृतज्ञ होना मेरे लिए स्वाभाविक है। उनसे मुझे अध्ययन का संस्कार, भाषा और साहित्य के प्रति अनुराग तथा किसी कार्य को धैर्य और गंभीरता से पूरा करने की प्रेरणा मिली है। उनका स्नेह, विश्वास और मार्गदर्शन मेरी साहित्यिक यात्रा का निरंतर संबल रहा है।

इस अनुवाद को मैं किसी पूर्णता के दावे के साथ पाठकों के सामने नहीं रख रही हूँ। इसे मैथिली और हिंदी के बीच साहित्यिक संवाद की दिशा में एक विनम्र प्रयास के रूप में देखती हूँ। यदि इसके माध्यम से 'पयस्विनी'

के विचार-संसार, जगदीश प्रसाद मण्डल की रचनात्मक चेतना और डॉ. उमेश मण्डल के आलोचनात्मक अध्ययन से हिंदी के कुछ नए पाठक जुड़ सकें, विद्यार्थियों और शोधार्थियों को उपयोगी सामग्री मिल सके तथा एक भारतीय भाषा का गंभीर साहित्य दूसरी भारतीय भाषा के पाठकों तक पहुँच सके, तो मैं अपने इस प्रयास को सार्थक मानूँगी।

- पल्लवी मण्डल

तुलसी भवन
निर्मली, सुपौल

भूमिका

✳

जगदीश प्रसाद मण्डलजी आधुनिक मैथिली साहित्य के ऐसे रचनाकार हैं, जिनकी रचनात्मक चेतना लोकजीवन से गहरे रूप से जुड़ी हुई है। उनका लेखन गाँव के जीवन, खेत के श्रम, पारिवारिक संबंधों, लोकाचार और उपेक्षित समाज की पीड़ा से अपनी मूल ऊर्जा ग्रहण करता है। स्त्री-पुरुष की सामाजिक स्थिति और मनुष्य की गरिमा का प्रश्न उनकी संवेदना को और गूढ़ बनाता है। उनके यहाँ गरिमा कोई अमूर्त आदर्श नहीं है; वह किसान, मजदूर, स्त्री, वंचित समाज और साधारण मनुष्य के जीवन-अधिकार से जुड़ा हुआ प्रश्न है। वे पाठक को कल्पना के किसी दूरस्थ संसार में नहीं ले जाते, बल्कि उसे अपने आसपास के जीवित और सक्रिय जीवन से परिचित कराते हैं। उनके साहित्य में गाँव की आत्मीयता और संघर्ष की कठोरता साथ-साथ चलती है। अभाव की पीड़ा वहाँ बार-बार उपस्थित रहती है, फिर भी वह पीड़ा निराशा के अंतिम अँधेरे में विलीन नहीं होती। उसके भीतर आशा का वह प्रकाश बचा रहता है, जो मनुष्य को टूटने से बचाता है। मण्डलजी के साहित्य का महत्त्व इसी बात में है कि वे लोकजीवन को कथा-वस्तु का साधारण आधार मानकर नहीं छोड़ते; उसमें वे मनुष्य के विचार, जीवन-मूल्य, प्रतिरोध-चेतना और मानवीय प्रतिष्ठा का मूल धरातल देखते हैं।

जगदीश प्रसाद मण्डलजी का जन्म 5 जुलाई 1947 को मधुबनी जिले के लखनौर प्रखंड के अंतर्गत बेरमा गाँव में हुआ। उनकी मातृभाषा मैथिली रही और उनके आरंभिक संस्कार ग्रामीण परिवेश में आकार लेते

गए। उनकी शिक्षा जनता कॉलेज, झंझारपुर से स्नातक स्तर तक और सी. एम. कॉलेज, दरभंगा से हिंदी तथा राजनीति शास्त्र में स्नातकोत्तर स्तर तक पूरी हुई। पारिवारिक दायित्व, खेती-बाड़ी, अध्ययनशीलता और आत्मानुशासन के संयुक्त संस्कार ने उनके व्यक्तित्व के आरंभिक निर्माण में निर्णायक भूमिका निभाई। इसी संयोजन ने उन्हें पुस्तकीय ज्ञान और व्यावहारिक अनुभव, दोनों का साझा धरातल दिया। फलस्वरूप उनके लेखन में विचार और जीवन, अनुभव और अध्ययन, संवेदना और विवेक अलग-अलग नहीं रहते, बल्कि परस्पर संबद्ध रूप में सामने आते हैं।

मण्डलजी की जीविका का मूल आधार खेती-बाड़ी रहा, फिर भी उनका कृषक-परिचय केवल पेशागत सूचना तक सीमित नहीं है। जीवन-वृत्त में वे आत्मनिर्भर कृषक के रूप में दर्ज हैं; पर इस परिचय के भीतर परंपरागत अनुभव, वैज्ञानिक दृष्टि, श्रम-संस्कार और समाज-बोध का पूरा संसार मौजूद है। उनके लिए कृषि केवल उपार्जन का साधन नहीं, जीवन-संगठन और समाज-निर्माण की आधारशिला है। कृषि उनके यहाँ मौसम, श्रम, प्रतीक्षा, जोखिम, सामूहिकता और आत्मनिर्भरता से जुड़ी हुई जीवन-पद्धति है। इसी कारण उनके साहित्य में मिट्टी केवल दृश्य बनकर नहीं आती; वह सामाजिक नैतिकता का आधार बन जाती है। इसीलिए श्रम और मिट्टी उनके लेखन में केवल दृश्य या प्रसंग नहीं रहते, बल्कि उत्पादक वर्ग, लोक-आधारित जीवन-व्यवस्था और सामुदायिक नैतिकता के मूल संकेत भी बन जाते हैं।

स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि केवल पुस्तकीय विचारों से निर्मित नहीं हुई। वह प्रत्यक्ष अनुभव, कृषक-समाज के यथार्थ और श्रमशील लोक-संपर्क से विकसित हुई। इसलिए पिछड़े वर्गों का संघर्ष और खेती-बाड़ी से जुड़े अनुभव उनके जीवन-वृत्त में केवल तथ्य बनकर नहीं रह जाते, उनके साहित्य का वैचारिक आधार बन जाते हैं। कृषक-जीवन पर आधारित यथार्थवादी दृष्टि उन्हें सामाजिक रूढ़ि, अंधविश्वास और सामंतवाद के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर देती है। उनके व्यक्तित्व में श्रम की गरिमा, समाज के प्रति उत्तरदायित्व और लोकजीवन के प्रति गहरी

प्रतिबद्धता अलग-अलग गुण नहीं हैं; वे एक-दूसरे से जुड़े हुए जीवन-संस्कार के रूप में दिखाई देते हैं। यह संयुक्त जीवन-दृष्टि उनके साहित्य को विशिष्ट गंभीरता, नैतिक दृढ़ता और सजीव सामाजिक आधार प्रदान करती है।

मण्डलजी की जीवन-शैली उनकी साहित्य-साधना के भीतरी अनुशासन को स्पष्ट करती है। भोर में दो बजे से लेखन आरंभ करना, खेत का निरीक्षण, ऋतु के अनुरूप सादा भोजन और दिनचर्या की नियमितता, ये सब मिलकर उनके जीवन की वह लय बनाते हैं, जिसका सीधा संबंध उनके रचनात्मक स्वभाव से जुड़ता है। शुद्धलेखन, पुनर्पाठ, शब्द-गणना और आत्मावलोकन का अभ्यास इस लय को केवल व्यक्तिगत आदत नहीं रहने देता, बल्कि उसे साहित्य-साधना की सजग प्रक्रिया बना देता है। खेत का निरीक्षण उन्हें जीवन के व्यावहारिक यथार्थ से जोड़े रखता है, तो ऋतुगत सादा भोजन और नियमित दिनचर्या उनके भीतर संयम, संतुलन और श्रमशीलता के संस्कार को दृढ़ करते हैं। पुनर्पाठ और शब्द-गणना का अभ्यास उनके लेखन को आकस्मिक भावावेग का परिणाम नहीं रहने देता, बल्कि उसे निरंतर रचनात्मक श्रम का फल बना देता है। इसी कारण उनके विपुल कृतित्व को केवल प्रतिभा का परिणाम मानना पर्याप्त नहीं होगा; वह साधना, अनुशासन और प्रतिदिन के सजग परिश्रम की उपलब्धि है। इस अर्थ में मण्डलजी एक अनुशासित और सजग साहित्य-साधक के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

लेखक के जीवन और साहित्य-सृजन के बीच ऐसा सामंजस्य विरल होता है। उनके विचार केवल कागज पर उतरे हुए निष्कर्ष नहीं, बल्कि दिनचर्या के प्रत्यक्ष अनुभव, श्रम की लय, मिट्टी के संस्पर्श और समाज के बीच बिताए गए जीवन से विकसित रचनात्मक बोध हैं। यही जीवन-संपृक्ति उनके लेखन को प्रामाणिकता और अनुभवगत सघनता प्रदान करती है।

कृतित्व की दृष्टि से जगदीश प्रसाद मण्डल अत्यंत विपुल, अनुशासित और बहुविध रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। जीवन-वृत्त के अनुसार सन् 2000 से उनके नियमित लेखन का आरंभ हुआ और उसके बाद कथा,

उपन्यास, नाटक, पद्य, बाल-साहित्य, आत्मकथात्मक गद्य और शोध-आलेख तक उनका रचनात्मक क्षेत्र निरंतर विस्तृत होता गया। 1100 से अधिक कथाएँ, 18 से अधिक उपन्यास, 12 एकांकी और नाटक, 12 पद्य-संग्रह तथा 10 बाल-साहित्य की पुस्तकें उनकी साहित्य-साधना की व्यापकता को प्रमाणित करती हैं। अब तक उनकी 135 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जो अपने-आप में एक विलक्षण सर्जनात्मक उपलब्धि है। उनकी पुस्तकें प्रायः पल्लवी प्रकाशन, निर्मली, सुपौल से प्रकाशित होती रही हैं, जिससे उनके लेखन की सतत प्रकाशन-परंपरा और रचनात्मक निरंतरता का स्वरूप भी स्पष्ट होता है।

मण्डलजी के साहित्यिक अवदान को समय-समय पर अनेक पुरस्कारों और सम्मानों से मान्यता मिली है। प्रारंभिक दशक में उन्हें विदेह सम्मान-2011, वैदेह सम्मान-2012, कौशिकी साहित्य सम्मान-2015, वैद्यनाथ मिश्र 'यात्री' सम्मान-2016, कौमुदी सम्मान-2017, यात्री चेतना पुरस्कार-2017 और स्व. बाबू साहेव चौधरी सम्मान-2018 प्राप्त हुआ। आगे राजकमल चौधरी साहित्य सम्मान-2020, अमर शहीद रामफल मंडल राष्ट्रीय पुरस्कार-2022, यात्री सम्मान-2022, मिथिला शिखर सम्मान-2022 और महाकवि पण्डित लालदास साहित्य गौरव सम्मान-2023 भी उनके अवदान की मान्यता बने। इसके अतिरिक्त 'गामक जिनगी' कथा-संग्रह सन् 2011 में टैगोर साहित्य पुरस्कार से अलंकृत हुआ और 'पंगु' उपन्यास सन् 2021 में साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित हुआ। ये सम्मान केवल बाहरी उपलब्धियों की सूची नहीं हैं। ये प्रमाणित करते हैं कि उनका लेखन संख्या, परिश्रम और निरंतरता के साथ-साथ गुण, प्रभाव, वैचारिक गहराई और साहित्यिक मान्यता के स्तर पर भी विशिष्ट स्थान प्राप्त करता है। 'गामक जिनगी' की मान्यता उनके ग्राम्य यथार्थ, लोक-संवेदना और साधारण मनुष्य के जीवन-संघर्ष की साहित्यिक प्रतिष्ठा को रेखांकित करती है। उसी तरह 'पंगु' को मिला साहित्य अकादेमी सम्मान कृषक-जीवन, सामाजिक चेतना, अभाव के बीच मनुष्य की जिजीविषा और जनपक्षधर दृष्टि की व्यापक स्वीकारोक्ति है। इस रूप में ये पुरस्कार केवल

लेखक की उपलब्धि नहीं, उनकी लोकधर्मी साहित्य-दृष्टि के सामाजिक और साहित्यिक प्रमाण भी हैं।

मण्डलजी की रचनाशीलता किसी एक विधा, विषय अथवा सीमित अनुभव-क्षेत्र में आबद्ध नहीं है। कथा में वे लोकजीवन की आंतरिक लय ग्रहण करते हैं, उपन्यास में समाज के दीर्घ संघर्ष और परिवर्तन की प्रक्रिया को सामने लाते हैं तथा वैचारिक गद्य में अपनी लोकधर्मी दृष्टि, तर्कशीलता और सामाजिक प्रतिबद्धता को प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त करते हैं। विधाओं का यह विस्तार बताता है कि उनका रचना-संसार विपुल होने के साथ-साथ बहुआयामी भी है। वर्तमान में 'संस्कार' नामक पुस्तक के लेखन में उनकी संलग्नता उनके आज भी सक्रिय सर्जनात्मक प्रवाह का प्रमाण है।

मण्डलजी के साहित्य की विशिष्टता को समझने में मैथिली साहित्य के वरेण्य आलोचकों के अभिमत विशेष महत्त्व रखते हैं। कुछ आलोचक उन्हें ग्रामीण जीवन के सूक्ष्म चित्रकार के रूप में देखते हैं, क्योंकि वे केवल गाँव के बाहरी दृश्य का चित्रण नहीं करते; उसके भीतरी स्पंदन, श्रम-संस्कृति, संबंधों की आत्मीयता, अभाव की पीड़ा, लोक-व्यवहार की सहजता और जीवन-संघर्ष के यथार्थ को अत्यंत आत्मीयता और सजीवता के साथ रूपायित करते हैं। दूसरी ओर, अनेक समीक्षकों का मत है कि उनके लेखन में परंपरागत आजीविका का गौरव, लोक-समाज का स्वाभिमान और सामाजिक वास्तविकता का स्वाभाविक चित्रण विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि किसान और मजदूर उनके साहित्य में केवल श्रमशील वर्ग के प्रतिनिधि बनकर नहीं आते, बल्कि गाँव की जीवन-संरचना के केंद्रीय आधार के रूप में उपस्थित होते हैं। वंचित समाज, घरेलू स्त्री, बुजुर्ग और युवा भी उनके रचना-संसार में अलग-अलग जीवन-अनुभवों के वाहक के रूप में स्थान पाते हैं। लोक-रीति, ग्राम्य संस्कार और परंपरागत जीवन-व्यवहार के माध्यम से मिथिला का समाज पाठक के सामने अपने व्यापक और बहुआयामी रूप में उभरता है।

इन आलोचनात्मक अभिमतों से मण्डलजी के रचना-संसार का एक महत्त्वपूर्ण रूप उद्घाटित होता है। कोई उन्हें मिथिला की मिट्टी और जीवन-चेतना का सशक्त स्वर कहता है, तो कोई उनके साहित्य को स्वातंत्र्योत्तर

भारत में एक समानांतर लोक-संसार की सर्जना के रूप में देखता है। ये टिप्पणियाँ केवल प्रशंसात्मक उल्लेख नहीं हैं। इनमें यह स्वीकारोक्ति निहित है कि जगदीश प्रसाद मण्डलजी लोकजीवन के साधारण अनुभवों को गंभीर साहित्यिक गरिमा प्रदान करते हैं। उनका साहित्य उस जीवन के पक्ष में खड़ा होता है, जो प्रायः मुख्यधारा के चमकदार साहित्यिक विमर्शों से बाहर रह जाता है। इसीलिए उनका रचना-संसार मिथिला की मिट्टी और श्रम से गहरे जुड़ा हुआ सशक्त साहित्यिक अभिलेख बन जाता है। उस अभिलेख में पीड़ा और संघर्ष का यथार्थ मिलता है। साथ ही नैतिकता और मानवीय गरिमा के प्रश्न भी बार-बार उभरते रहते हैं।

मण्डलजी के रचना-संसार का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि उनकी कथा, उपन्यास और अन्य सृजनात्मक विधाओं में व्यक्त जीवन-दृष्टि 'पयस्विनी' में प्रत्यक्ष वैचारिक रूप ग्रहण करती है। उनके सृजनात्मक साहित्य में लोकजीवन और श्रम कोई बाहरी प्रसंग नहीं रहे; वे स्थायी अंतर्धारा के रूप में प्रवाहित होते रहे हैं। सामाजिक असमानता, संस्कृति और मानवीय मर्यादा के प्रश्न भी उसी धारा से जुड़कर अपना अर्थ ग्रहण करते रहे। कथा और उपन्यास में जो दृष्टि पात्र, घटना, परिवेश और संवेदना के माध्यम से व्यक्त होती है, 'पयस्विनी' में वही जनपक्षधर चेतना विश्लेषणात्मक, तर्कसंगत और विचारप्रधान गद्य बनकर उभरती है। इस अर्थ में 'पयस्विनी' उनके कथा-संसार से अलग कोई असंबद्ध पुस्तक नहीं है। यह उस समग्र रचनात्मक अनुभव का वैचारिक संकेन्द्रण है, जिसके आधार पर उनके साहित्यिक व्यक्तित्व को अधिक गहराई से समझा जा सकता है। इसे पढ़ते हुए अनुभव होता है कि उनके भीतर का रचनाकार और चिंतक अलग-अलग नहीं हैं; दोनों एक-दूसरे को आलोकित करते हैं।

इस समालोचनात्मक आधार से यह भी स्पष्ट होता है कि मण्डलजी अपने गाँव को अवश्य केंद्र में रखते हैं, पर उनकी दृष्टि किसी सीमित आंचलिक परिधि में आबद्ध नहीं रहती। गाँव उनके यहाँ केवल भौगोलिक स्थल नहीं, समाज को समझने का मूल आधार है। उसी आधार पर खड़े होकर मण्डलजी वर्ग, श्रम और असमानता के प्रश्नों को केवल सामाजिक समस्या के रूप में नहीं देखते; वे इन्हें जीवन की भीतरी संरचना से जुड़े प्रश्नों

के रूप में देखते हैं। मानवीय मर्यादा और लोक-संस्कृति उनके लिए समाज को समझने के सहायक तत्त्व भर नहीं हैं; वे ऐसे धरातल हैं, जिन पर मनुष्य के संबंध, संघर्ष और मूल्य पहचाने जा सकते हैं। फलस्वरूप सामुदायिक संबंधों, बदलते सामाजिक मूल्यों और लोकजीवन के आंतरिक तनावों पर उनकी दृष्टि हमेशा सजग रहती है। इसी कारण उनका साहित्य आंचलिकता से जन्म लेता है, पर उसका अर्थ, सरोकार और प्रभाव व्यापक सामाजिक धरातल पर सक्रिय हो उठता है। उनका गाँव स्थानीय होकर भी भारतीय समाज के अंतर्विरोधों, लोकजीवन के संघर्ष और मनुष्य की गरिमा के प्रश्नों को उद्घाटित करने में सक्षम आधार बनता है।

इस व्यापक रचना-संसार में 'पयस्विनी' विशेष महत्त्व रखने वाली कृति के रूप में सामने आती है। मैथिली में लिखे गए शोध-पत्रों, निबन्धों, आलोचनात्मक टिप्पणियों, प्रश्नोत्तरों और परिसंवादों के माध्यम से यह पुस्तक मण्डलजी के वैचारिक व्यक्तित्व को प्रत्यक्ष रूप से उद्घाटित करती है। इसका पहला संस्करण सन् 2021 में और दूसरा संस्करण सन् 2023 में प्रकाशित हुआ। पहली दृष्टि में यह विविध गद्य-रचनाओं का संग्रह लग सकती है, पर गंभीर अवलोकन से स्पष्ट होता है कि इस विविधता के भीतर एक सुसंगत वैचारिक एकता सक्रिय है। अलग-अलग विषय और रूप होने पर भी पुस्तक की मूल चिंता मनुष्य, समाज, संस्कृति, लोक-चेतना और विचार की जिम्मेदारी से जुड़ी रहती है।

'पयस्विनी' में दार्शनिक प्रश्न, लोक-संस्कृति का विमर्श, संस्कार-बोध, सामाजिक प्रतिरोध और संवादधर्मी आत्मव्याख्या एक साथ उपस्थित हैं। इसी विविधता के कारण पुस्तक बाहरी रूप से बहुखंडीय गद्य-संग्रह लगती है, पर गंभीरता से देखने पर समझ में आता है कि इसमें मण्डलजी के चिंतन की अनेक धाराएँ एक संगठित वैचारिक धरातल पर मिलती हैं। ये धाराएँ अंततः मनुष्य, समाज, संस्कृति, न्यायपूर्ण लोक-चेतना और जनपक्षधर दृष्टि की दिशा में प्रवाहित होती हैं। इसलिए 'पयस्विनी' को केवल लेख-संग्रह कहकर छोड़ देना पर्याप्त नहीं है। यह मण्डलजी की रचना-दृष्टि, समाज-बोध और संवादधर्मी चेतना का महत्त्वपूर्ण वैचारिक दस्तावेज बनकर सामने आती है।

‘पयस्विनी’ के प्रमुख लेख मण्डलजी के विचार-संसार के भिन्न-भिन्न पक्षों को खोलते हैं। धार्मिक अवधारणाओं पर प्रश्न उठाने की तर्कशीलता उनकी विवेकशील चेतना को सामने लाती है। संस्कार और लोकगीत के सहारे मिथिला की सांस्कृतिक संरचना को समझने की दृष्टि विकसित होती है। वर्चस्ववादी प्रवृत्तियों के प्रतिपक्ष में हाशिये के समाज की पक्षधरता पुस्तक को गहरा सामाजिक अर्थ देती है। इन प्रसंगों में लेखक किसी विषय को केवल सूचना या अवसरजन्य टिप्पणी के रूप में नहीं उठाते; वे उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक आशय पर विचार करते हैं। इसलिए ‘पयस्विनी’ में विषयों की विविधता रहते हुए भी दृष्टि की एकाग्रता बनी रहती है।

प्रश्नोत्तर और परिसंवाद इस पुस्तक की विशिष्टता को और गहन बनाते हैं। इन अंशों में मण्डलजी अपनी साहित्य-दृष्टि, जीवन-बोध, लेखन-प्रेरणा, सामाजिक चिंता और भाषा-संबंधी विचारों को अधिक प्रत्यक्ष रूप में रखते हैं। इनके माध्यम से पाठक को रचनाकार की भीतरी वैचारिक गति, सामाजिक प्रतिबद्धता और आत्मव्याख्या का स्वर अधिक विश्वसनीय रूप में प्राप्त होता है। इसी कारण ‘पयस्विनी’ मण्डलजी के व्यक्तित्व और कृतित्व को समझने के लिए आधार-पुस्तक का रूप भी ग्रहण करती है। इस पुस्तक में मण्डलजी स्वयं अपने विचार, भाषा-बोध, सामाजिक चिंता, लेखन-प्रेरणा और रचना-दृष्टि को प्रत्यक्ष रूप से रखते हैं। इसलिए ‘पयस्विनी’ बाहरी आलोचना द्वारा निर्मित छवि भर नहीं रह जाती, बल्कि रचनाकार की आत्मव्याख्या का मूल स्रोत भी बन जाती है।

यही कारण है कि ‘पयस्विनी’ पर पृथक आलोचनात्मक अध्ययन की आवश्यकता स्वाभाविक रूप से सामने आती है। मण्डलजी पर सामान्यतः कथा, उपन्यास और ग्राम्य यथार्थ के संदर्भ में अधिक चर्चा हुई है, जबकि उनके वैचारिक गद्य, सांस्कृतिक विवेक, सार्वजनिक वैचारिक सक्रियता और प्रश्नोत्तर-आधारित आत्मदृष्टि का समेकित परीक्षण अपेक्षित रहा है। ‘पयस्विनी’ इन सभी पक्षों को एक साथ उपस्थित करती है। इसी कारण इसे केंद्र में रखकर किया गया अध्ययन मण्डलजी की समग्र रचनाधर्मिता को समझने के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होता है।

प्रस्तुत पुस्तक की विशेषता इसी बात में है कि यह 'पयस्विनी' का केवल सार-संक्षेप या सामान्य परिचय प्रस्तुत नहीं करती। यह उस पुस्तक की भीतरी वैचारिक संरचना, सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक पक्षधरता, संवादधर्मिता, रचना-शिल्प और जगदीश प्रसाद मण्डलजी की समग्र रचनाधर्मिता से उसके अंतर्संबंध को एक साथ उद्घाटित करने का प्रयास करती है। यहाँ 'पयस्विनी' को उनकी स्वतंत्र गद्य-पुस्तक भर नहीं माना गया है; उसे उनके चिंतन के संगठित दस्तावेज के रूप में पढ़ा गया है। इस दृष्टि से यह अध्ययन उनके वैचारिक गद्य के सम्यक् मूल्यांकन की दिशा में एक आरंभिक, किंतु आवश्यक योगदान प्रस्तुत करता है।

प्रस्तुत पुस्तक 'पयस्विनी: विचार, समाज और संवाद' इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर तैयार की गई है। इसका उद्देश्य 'पयस्विनी' के स्वरूप, अंतर्वस्तु और विचार-संरचना का सम्यक् परीक्षण करना है। लोक-सांस्कृतिक धरातल, सामाजिक पक्षधरता, संवादधर्मी शैली और तर्क-पद्धति इस परीक्षण के प्रमुख आधार हैं। साथ ही, मण्डलजी के समग्र कृतित्व में 'पयस्विनी' के स्थान को भी अध्ययन के केंद्र में रखा गया है।

इस भूमिका में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की चर्चा विस्तार से इसलिए की गई है कि रचनाकार की जीवन-दृष्टि को समझे बिना 'पयस्विनी' के अंतरस्वर को पूरी तरह पकड़ना कठिन हो सकता है। मण्डलजी अपने जीवन में श्रम, अनुशासन, सामाजिक न्याय और जन-संवाद को केंद्र में रखते हैं; इसलिए उनका गद्य भी उन्हीं जीवन-संस्कारों से पोषित होता है। 'पयस्विनी' इसी सुसंबद्ध जीवन-दृष्टि की साहित्यिक परिणति के रूप में सामने आती है।

इस अध्ययन में मुख्यतः पाठ-विश्लेषणात्मक, व्याख्यात्मक, संदर्भपरक और आलोचनात्मक पद्धति का उपयोग किया गया है। 'पयस्विनी' में संकलित लेखों, प्रश्नोत्तरों, परिसंवादों और सार्वजनिक टिप्पणियों के निकट पाठ के आधार पर उसके वैचारिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और शैलीगत स्वरूप का परीक्षण किया गया है। जहाँ आवश्यक लगा है, वहाँ मण्डलजी की जीवन-दृष्टि, कृतित्व और लोक-संबद्ध साहित्यिक भूमिका को सहायक पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण किया गया है।

इस पद्धति के माध्यम से 'पयस्विनी' को सामान्य संग्रह के रूप में नहीं, एक संगठित वैचारिक गद्य-पाठ के रूप में समझने का प्रयास किया गया है।

समकालीन मैथिली आलोचना-साहित्य के संदर्भ में 'पयस्विनी' का अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है। आज जब भाषा और लोक-संस्कृति के साथ सामाजिक प्रतिनिधित्व, सार्वजनिक वैचारिक सक्रियता और साहित्य की जनपक्षधर भूमिका पर नए सिरे से विचार हो रहा है, तब ऐसी पुस्तक का आलोचनात्मक पुनर्पाठ आवश्यक हो जाता है। 'पयस्विनी' में विचार, समाज, संस्कृति, प्रतिरोध, लोक-चेतना और संवाद परस्पर संबद्ध रूप में उद्घाटित होते हैं। इसलिए प्रस्तुत अध्ययन एक पुस्तक की समीक्षा भर नहीं है; यह आधुनिक मैथिली साहित्य के वैचारिक गद्य, लोकधर्मी साहित्य-दृष्टि और सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्श की दिशा में एक गंभीर कदम है।

इस अध्ययन का एक गहरा अभिप्राय यह भी है कि मैथिली साहित्य में वैचारिक गद्य के महत्त्व को नए सिरे से पहचाना जाए। सामान्यतः रचनाकार की कथा, उपन्यास या काव्य पर अधिक चर्चा होती है, पर वैचारिक गद्य अक्सर उपेक्षित रह जाता है और उसे गंभीरता से नहीं पढ़ा जाता। 'पयस्विनी' इस अभाव को पूरा करने योग्य पुस्तक है, क्योंकि यहाँ लेखक अपने समय, समाज, संस्कृति, परंपरा, असमानता, भाषा और जनजीवन पर प्रत्यक्ष चिंतन करते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन उनके गद्य के मूल्यांकन के साथ-साथ आधुनिक मैथिली में विचारप्रधान, लोकधर्मी लेखन की संभावना और गरिमा को भी रेखांकित करता है।

आगे के प्रकरणों में प्रस्तुत पुस्तक के बहुआयामी स्वरूप का क्रमशः विश्लेषण किया गया है। पहले अध्याय में इसके स्वरूप, रचना-प्रसंग और विधागत संरचना पर विचार किया गया है, जिससे पुस्तक के समग्र गठन, अंतर्वस्तु और विधागत विशेषताओं का प्राथमिक आधार स्पष्ट होता है। इसके बाद दार्शनिक प्रश्न और तर्कशील दृष्टि पर विचार किया गया है। अगले प्रकरणों में संस्कृति-संस्कार, लोक-चेतना, हाशिये का समाज, वर्चस्व-विमर्श, सामाजिक प्रतिरोध और सार्वजनिक लेखन का विवेचन क्रमशः प्रस्तुत हुआ है।

इन सभी अध्यायों में 'पयस्विनी' को मात्र विविध लेखों के संग्रह के

रूप में नहीं देखा गया है; उसे मण्डलजी की वैचारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि की संगठित अभिव्यक्ति के रूप में समझने का प्रयास किया गया है। इसी क्रम में प्रश्नोत्तर और परिसंवाद में उद्घाटित उनके व्यक्तित्व की चर्चा की गई है। इसके बाद 'पयस्विनी' के आलोक में जगदीश प्रसाद मण्डलजी के वैचारिक व्यक्तित्व को पृथक रूप से स्पष्ट किया गया है, जिससे रचनाकार की आंतरिक चिंतन-प्रक्रिया, सामाजिक प्रतिबद्धता और जनपक्षधर दृष्टि अधिक स्पष्टता से उद्घाटित होती है।

आगे 'पयस्विनी' की भाषा, शैली, तर्क-पद्धति और गद्य-सौष्ठव का विश्लेषण किया गया है। उसके बाद इसके रचना-शिल्प, विन्यास और अभिव्यक्ति-कौशल पर विचार किया गया है। अंतिम अध्याय में जगदीश प्रसाद मण्डलजी की समग्र रचनाधर्मिता में 'पयस्विनी' का स्थान निर्धारित किया गया है और उपसंहार में पूरे अध्ययन के निष्कर्ष समेटे गए हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन जगदीश प्रसाद मण्डलजी के वैचारिक व्यक्तित्व, लोकधर्मी साहित्य-दृष्टि और आधुनिक मैथिली गद्य के विकास-क्रम में 'पयस्विनी' को एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव के रूप में समझने का प्रयास करता है। यह अध्ययन इस विश्वास के साथ संपन्न हुआ है कि उनके वैचारिक गद्य को गंभीर आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य में पढ़ा जाए, उसके सामाजिक-सांस्कृतिक आशय को पहचाना जाए और मैथिली आलोचना-परंपरा में विचारप्रधान लोकधर्मी लेखन की गरिमा को समुचित स्थान दिया जाए। आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक 'पयस्विनी' के महत्त्व को अधिक स्पष्ट करेगी और उनके समग्र साहित्यिक अवदान को समझने की दिशा में उपयोगी योगदान सिद्ध होगी।

- उमेश मण्डल

निर्मली, सुपौल

मो.: +91 99316 54742

पयस्विनी का स्वरूप, रचना-प्रसंग और विधागत संरचना

✳

'पयस्विनी' जगदीश प्रसाद मण्डलजी की ऐसी गद्य-पुस्तक है, जिसमें उनकी वैचारिक सजगता, सामाजिक दृष्टि, सांस्कृतिक संवेदना और संवादधर्मी स्वभाव एक साथ अभिव्यक्त हुए हैं। शोध-पत्रों, निबंधों और आलोचनात्मक आलेखों के संग्रह के रूप में प्रकाशित इस कृति की प्रकाशकीय सूचना और अनुक्रम इसे विचारप्रधान गद्य-पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। पल्लवी प्रकाशन, निर्मली से प्रकाशित यह पुस्तक अपनी विविध अंतर्वस्तु के कारण बहुआयामी वैचारिक दस्तावेज का रूप ग्रहण करती है।

इस पुस्तक का नाम अत्यंत अर्थवान है। 'पयस्विनी' शब्द में प्रवाह, पोषण, जीवनधर्मिता और आंतरिक रसात्मकता, ये सभी भाव एक साथ निहित हैं। यह शीर्षक पुस्तक के स्वभाव का भीतर से संकेत करता है। इस पुस्तक में अनेक लेख, प्रश्नोत्तर और परिसंवाद अलग-अलग धाराओं की तरह प्रवाहित होते हैं, पर उन सबका अंतिम प्रवाह मनुष्य, समाज, संस्कृति, लोक-चेतना और विचार की जिम्मेदारी की ओर पहुँचता है। जब पाठक पुस्तक के अनुक्रम पर दृष्टि डालता है, तब स्पष्ट होता है कि इसके नाम के अनुरूप इसकी सामग्री भी बहुधारात्मक है। यहाँ किसी एक विषय की संकुचित पुनरावृत्ति नहीं है; अलग-अलग स्तरों के विचार इस संग्रह में संगृहीत हैं। धर्म, समाज, लोक-संस्कृति, साहित्यिक सक्रियता, व्यक्तित्व-स्मरण, प्रश्नोत्तर और परिसंवाद जैसे विविध आयाम इस पुस्तक की

आंतरिक संरचना को मजबूती से गढ़ते हैं। यही कारण है कि ‘पयस्विनी’ के स्वरूप की चर्चा करते समय इसे सामान्य निबंध-संग्रह की श्रेणी में रखकर चुप हो जाना पर्याप्त नहीं लगता।

अनुक्रम के आधार पर देखें तो ‘पयस्विनी’ में कुल बारह रचनाएँ शामिल हैं। पहले भाग में ‘अवतारवाद’, ‘संस्कार और संस्कार गीत’ तथा ‘वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष’ जैसे वैचारिक लेख हैं। दूसरे भाग में ‘अन्तर्राष्ट्रीय मैथिली सम्मेलन 2011, गुवाहाटी’, ‘सगर राति दीप जरय’ की 100वीं कथागोष्ठी के संबंध में, ‘वेब प्रोग्राम, 29 जुलाई 2020’ और ‘भाई राजनन्दन लाल दासजी की जीवन-यात्रा’ जैसे सार्वजनिक-सांस्कृतिक लेख हैं। अंतिम भाग ‘गजेन्द्र ठाकुरजी के प्रश्नों के उत्तर’, ‘मुन्नाजी के प्रश्नों के उत्तर’, ‘मुकेश दत्तजी के प्रश्नों के उत्तर’, ‘परिसंवाद-01’ और ‘परिसंवाद-02’ से बनता है। इन शीर्षकों का सामंजस्य स्पष्ट करता है कि यह पुस्तक किसी एकरूप विधागत अनुशासन का क्रमबद्ध उदाहरण नहीं, बल्कि बहुस्तरीय गद्य-विन्यास की प्रतिनिधि कृति है। लेखक की अभिरुचि विषय-विस्तार की ओर है। वे अपने चिंतन के विविध पक्षों को अलग-अलग शीर्षकों में दर्ज करते हैं।

पुस्तक का स्वरूप ठीक से समझने के लिए इसकी सामग्री को चार व्यापक खंडों में विभाजित किया जा सकता है। पहला खंड वैचारिक और तर्कप्रधान गद्य का है। ‘अवतारवाद’ तथा ‘संस्कार और संस्कार गीत’ इसी खंड में आते हैं। दूसरा खंड सामाजिक प्रतिरोध, शक्ति-संरचना और हाशिये के समाज के विमर्श से संबंधित है। ‘वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष’ इस खंड का केंद्रीय पाठ है। तीसरा खंड साहित्यिक-सांस्कृतिक सक्रियता और सार्वजनिक भागीदारी का है, जिसमें सम्मेलन, कथागोष्ठी और वेब-प्रोग्राम पर आधारित लेख शामिल हैं। चौथा खंड व्यक्तित्व, प्रश्नोत्तर और परिसंवाद का है, जहाँ लेखक अपनी आत्मदृष्टि, रचनात्मक चिंता और सार्वजनिक विचारधारा को प्रत्यक्ष रूप में रखते हैं। ये चारों खंड अलग-अलग होते हुए भी परस्पर संबद्ध हैं। पहला खंड विचार का आधार बनाता है, दूसरा खंड उस विचार को सामाजिक दिशा देता है,

तीसरा खंड लेखक की सार्वजनिक साहित्यिक उपस्थिति को खोलता है और चौथा खंड उनके आत्मस्वर, संवादशीलता और रचना-दृष्टि को प्रत्यक्ष करता है। इस वर्गीकरण से यह समझना आसान हो जाता है कि 'पयस्विनी' एक योजनाबद्ध वैचारिक विस्तार का संकेत भी है।

रचना-प्रसंग की दृष्टि से 'पयस्विनी' मण्डलजी के दीर्घ साहित्यिक और सामाजिक अनुभव की उपज है। कथा, उपन्यास, नाटक, पद्य, बाल-साहित्य, आत्मकथात्मक गद्य और शोध-आलेख तक विस्तृत रचनात्मक यात्रा के बाद इस पुस्तक में वे अपने चिंतन के प्रमुख प्रश्नों को स्वतंत्र वैचारिक गद्य में व्यवस्थित करते हैं। यहाँ सामाजिक अनुभव किसी कथानक अथवा पात्र के माध्यम से नहीं, लेखक के प्रत्यक्ष तर्क और विवेचन के रूप में सामने आता है। इस कारण पुस्तक का रचना-प्रसंग उनके अनुभव-संपन्न चिंतन को सुव्यवस्थित अभिव्यक्ति देने की आवश्यकता से जुड़ा दिखाई देता है।

मण्डलजी की जीवन-दृष्टि और 'पयस्विनी' के रचना-प्रसंग के बीच गहरा संबंध है। जीवन-वृत्त में उनका सामाजिक परिचय आत्मनिर्भर किसान के रूप में दर्ज है। खेती-बाड़ी उनकी मूल कर्मभूमि रही है। वे कृषि को समाज-निर्माण का आधार मानते हैं। पिछड़े वर्गों का संघर्ष, सामाजिक रूढ़ियों और अंधविश्वास का प्रतिरोध, तरकारी खेती और कृषक-जीवन पर आधारित यथार्थवादी साहित्य उनके कार्यक्षेत्र के रूप में उल्लिखित हैं। ऐसी जीवनभूमि से निकला लेखक जब गद्य लिखता है, तब उसका चिंतन अकादमिक रूक्षता धारण नहीं करता। वह अनुभव, समाज और व्यवहार के धरातल पर सक्रिय रहता है। 'पयस्विनी' के अधिकांश लेखों में यह गुण सहज रूप से अनुभव होता है। यहाँ तर्क पुस्तकालय के बंद कमरे से नहीं, जीवन के खुले परिवेश से आया हुआ प्रतीत होता है।

प्रस्तुत पुस्तक का आरंभ 'अवतारवाद' शीर्षक लेख से होता है, और यह आरंभ 'पयस्विनी' के तर्कशील स्वर का स्पष्ट संकेत देता है। यहाँ धार्मिक-मिथकीय मान्यताओं को प्रश्न की कसौटी पर रखने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इस प्रसंग का विस्तृत विवेचन दार्शनिक प्रश्न और तर्कशील

दृष्टि से संबंधित अध्याय में स्वतंत्र रूप से किया गया है; पर पहले अध्याय के संदर्भ में इतना ध्यान देना आवश्यक है कि 'पयस्विनी' आरंभ से ही पाठक को जिज्ञासा, तर्क और वैचारिक आत्मनिर्भरता के क्षेत्र में प्रवेश कराती है।

'संस्कार और संस्कार गीत' शीर्षक आलेख पुस्तक की सांस्कृतिक दिशा उद्घाटित करता है। इस लेख में मिथिला की संस्कार-परंपरा, लोकगीत, स्त्री की सांस्कृतिक भूमिका, जातिगत विविधता और मौखिक परंपरा के संकेत मिलते हैं। संस्कृति, संस्कार, लोकजीवन और लोक-चेतना से संबंधित अध्याय में इस पक्ष पर विस्तार से विचार किया गया है। यहाँ मुख्य बात यह है कि 'पयस्विनी' लोक-संस्कृति को जड़ परंपरा के रूप में नहीं, जीवित सामाजिक अनुभव के रूप में देखती है।

तीसरा प्रमुख लेख 'वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष' पुस्तक की सामाजिक दिशा स्पष्ट करता है। यहाँ भाषा, साहित्य, सत्ता, वंचना, प्रतिनिधित्व और उपेक्षित समाज के प्रश्न एक ही विमर्श-फलक पर उपस्थित होते हैं। हाशिये का समाज, वर्चस्व-विमर्श और सामाजिक प्रतिरोध से संबंधित अध्याय में इस विमर्श का विस्तृत परीक्षण किया गया है। पहले अध्याय में उसका मूल संकेत इतना ही है कि 'पयस्विनी' सामाजिक असमानता, सांस्कृतिक वर्चस्व और जनपक्षधर प्रतिरोध को अपनी वैचारिक संरचना का महत्त्वपूर्ण आधार बनाती है।

पुस्तक की विधागत संरचना में सार्वजनिक-साहित्यिक प्रसंग भी विशेष महत्त्व रखते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मैथिली सम्मेलन, 'सगर राति दीप जरय', वेब प्रोग्राम और व्यक्तित्व-स्मरण संबंधी लेख स्पष्ट करते हैं कि मण्डलजी की साहित्यिक उपस्थिति केवल एकांत लेखन-क्रिया तक सीमित नहीं रही। वे सम्मेलन, गोष्ठी, संवाद, सामूहिक वाचन और सार्वजनिक साहित्यिक विमर्श के सक्रिय सहभागी रहे हैं। इन अंशों के कारण 'पयस्विनी' साहित्य के सार्वजनिक जीवन को अभिलेखित करने में भी उपयोगी सिद्ध होती है।

प्रस्तुत पुस्तक की विधागत संरचना को उसका प्रश्नोत्तर और परिसंवाद-खंड विशेष बनाता है। गजेन्द्र ठाकुरजी, मुन्नाजी और मुकेश दत्तजी के प्रश्नों के उत्तर तथा दो परिसंवादों के माध्यम से लेखक की आत्मदृष्टि, रचना-दृष्टि और संवादधर्मी स्वभाव के संकेत मिलते हैं। इस संवादात्मक पक्ष का सम्यक् परीक्षण प्रश्नोत्तर और परिसंवाद में उद्घाटित मण्डलजी के व्यक्तित्व से संबंधित अध्याय में किया गया है। यहाँ यह बात महत्त्वपूर्ण है कि 'पयस्विनी' निबंधात्मक गद्य के साथ-साथ संवादात्मक आत्मव्याख्या का स्वरूप भी धारण करती है।

मण्डलजी का साहित्य-दर्शन 'पयस्विनी' की विधागत प्रकृति को समझने के लिए विशेष उपयोगी है। उनके लिए लेखन जीवन से अलग प्रदर्शन की वस्तु नहीं है; वह सामाजिक प्रतिबद्धता, मौन जीवन की पक्षधरता और जन-संवाद की साधना है। इस दृष्टि से 'पयस्विनी' का मिश्रित स्वरूप बिल्कुल स्वाभाविक लगता है। निबंध, प्रश्नोत्तर, परिसंवाद, सार्वजनिक लेख और सांस्कृतिक टिप्पणी यहाँ अलग-अलग विधागत खंड मात्र नहीं रहते; ये सब लेखक की संवादधर्मी साहित्य-दृष्टि की परस्पर संबद्ध अभिव्यक्ति के रूप में सामने आते हैं। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक की संरचना मण्डलजी की वैचारिक प्रवृत्ति और जन-संवाद के आग्रह की स्वाभाविक परिणति के रूप में दिखाई देती है।

पुस्तक के आंतरिक क्रम में भी एक योजनाबद्ध प्रवाह दिखाई देता है। आरंभ दार्शनिक प्रश्न से होता है। उसके बाद संस्कृति और लोक-संस्कार की चर्चा आती है। फिर सामाजिक प्रतिरोध का स्वर प्रबल होता है। इसके बाद साहित्यिक-सांस्कृतिक सार्वजनिकता, व्यक्तित्व-स्मरण और अंततः प्रश्नोत्तर-परिसंवाद के रूप में लेखक का आत्मप्रकाश उद्घाटित होता है। यह क्रम पाठक को क्रमशः लेखक के मस्तिष्क, समाज-दृष्टि, सांस्कृतिक चेतना, सार्वजनिक सक्रियता और संवादशील स्वभाव की ओर ले जाता है। इस अर्थ में 'पयस्विनी' केवल लेखों का जोड़ नहीं है; वह क्रमिक आत्मप्रकाश की पुस्तक सिद्ध होती है। पाठक एक शीर्षक से दूसरे शीर्षक की ओर बढ़ते हुए लेखक के व्यक्तित्व की विभिन्न तहों तक पहुँचता जाता

है।

रचना-प्रसंग का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष पुस्तक की विषयगत व्यापकता से जुड़ा है। मण्डलजी के कथा-साहित्य में गाँव, स्त्री, कृषक-जीवन, वंचित समाज और मानवीय संघर्ष के विविध रूप उपस्थित हैं। 'पयस्विनी' में इन्हीं अनुभव-क्षेत्रों से जुड़े सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक प्रश्न स्वतंत्र विवेचन के विषय बनते हैं। फलतः इस पुस्तक को पढ़ने से उनके सृजनात्मक साहित्य में निहित सरोकारों की पृष्ठभूमि अधिक स्पष्ट होती है। यह विशेषता 'पयस्विनी' को उनके गद्य-साहित्य में एक विशिष्ट और उपयोगी स्थान प्रदान करती है।

इस अध्याय का निष्कर्ष यह है कि 'पयस्विनी' का स्वरूप बहुधारात्मक है। इसका रचना-प्रसंग मण्डलजी की दीर्घ साहित्यिक और सामाजिक साधना से गहरे रूप में संबद्ध है, और इसकी विधागत संरचना मैथिली गद्य-साहित्य में मिश्रित, बहुस्वरीय और विचारोत्तेजक रूप प्रस्तुत करती है। यह पुस्तक लेखक की वैचारिकता, लोक-संपृक्ति, सामाजिक पक्षधरता, सांस्कृतिक अवलोकन और संवाद-धर्मिता की संयुक्त अभिव्यक्ति है। इसी कारण प्रस्तुत पुस्तक का आलोचनात्मक अध्ययन उनके समग्र कृतित्व को समझने के लिए विशेष रूप से अनिवार्य हो जाता है। ❑

पयस्विनी में दार्शनिक प्रश्न, तर्कशील दृष्टि और वैचारिक प्रतिपक्ष

'पयस्विनी' के वैचारिक केंद्र को समझने के लिए इस बात पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है कि यह पुस्तक केवल निबंधों का संग्रह नहीं है। यह एक सजग चिंतक के आत्मप्रकाश का गद्य-दस्तावेज भी है। इसमें संकलित दार्शनिक प्रश्न आकस्मिक टिप्पणियाँ नहीं हैं। वे लेखक जगदीश प्रसाद मण्डलजी के दीर्घ जीवन-अनुभव, सामाजिक अवलोकन, लोक-संबद्धता और वैचारिक आत्मनिर्भरता से उपजे हैं। अनुक्रम में प्रमुख वैचारिक लेखों, प्रश्नोत्तरों और परिसंवादों को साथ रखकर देखने से समझ में आता है कि मण्डलजी के चिंतन का मूल स्वभाव प्रश्न उठाना, तथ्य को परखना और स्थापित मान्यताओं के भीतर छिपी सत्ता-संरचना को पहचानना है। इस अर्थ में 'पयस्विनी' को एक जिज्ञासु, तर्कशील और प्रतिपक्षधर्मी गद्य-पुस्तक कहा जा सकता है।

'अवतारवाद' शीर्षक लेख में जगदीश प्रसाद मण्डलजी धार्मिक अवधारणाओं को भावनात्मक श्रद्धा के धरातल पर स्वीकार नहीं करते। वे उन्हें तर्क, इतिहास और स्रोत-विश्लेषण के आधार पर परखते हैं। मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, नृसिंह आदि प्रसंगों का विवेचन करते हुए वे शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण और श्रीमद्भागवत के स्कंध-1, अध्याय-3 तक के स्रोतों का उल्लेख करते हैं और स्पष्ट करते हैं कि अवतारवाद आरंभ से कोई स्थिर सिद्धांत नहीं रहा, बल्कि वह क्रमशः विकसित हुई मान्यता है। इस पद्धति से लेखक का वैचारिक आग्रह स्पष्ट

रूप से सामने आता है कि किसी भी धार्मिक अवधारणा को केवल परंपरागत स्वीकृति के आधार पर नहीं, ऐतिहासिक परीक्षण और तार्किक समीक्षा के आधार पर परखा जाना चाहिए।

इस पुस्तक का दार्शनिक स्वर सबसे तीव्र रूप में 'अवतारवाद' लेख में प्रकट होता है। लेख आरंभ से ही ईश्वर, जीव, अवतार और मिथकीय मान्यताओं के पारस्परिक संबंध को प्रश्न के धरातल पर लाता है। लेखक पहले पारंपरिक परिभाषा प्रस्तुत करते हैं, फिर उसी आधार पर मिथकीय कथाओं की तार्किकता, नैतिकता और मानवीय अर्थ की परीक्षा करते हैं। वे प्रश्न उठाते हैं कि सर्वव्यापक, सर्वदयालु और सर्वशक्तिमान सत्ता हत्या, छल, कपट, हिंसा और पक्षपात जैसे व्यवहार कैसे कर सकती है? मत्स्य, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और कृष्ण से जुड़े पुराण-प्रसंगों के संदर्भ में उठाए गए प्रश्न केवल धार्मिक असहमति के संकेत नहीं हैं। वे दार्शनिक विवेक की सशक्त उद्घोषणा हैं। यहाँ लेखक श्रद्धा-प्रधान पुनरुक्ति पर आश्रित नहीं रहते। वे मिथक के नैतिक आशय, तार्किक आधार और मानवीय परिणाम को विवेक की कसौटी पर रखकर समीक्षा प्रस्तुत करते हैं।

'अवतारवाद' शीर्षक आलेख का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि मण्डलजी केवल निषेध तक सीमित नहीं रहते। वे असहमति प्रकट कर चुप भी नहीं हो जाते। वे H. Jacobi, Monier Williams तथा H. C. Raychaudhuri जैसे आधुनिक विद्वानों के मतों को उद्धृत करते हैं। इससे समझ में आता है कि अवतारवाद का विमर्श धार्मिक लोकविश्वास की परिधि से आगे बढ़कर तुलनात्मक धर्म-अध्ययन और इतिहास-चिंतन का विषय भी रहा है। इससे मण्डलजी की आलोचना भावावेग की प्रतिक्रिया न रहकर प्रमाण-समर्थित वैचारिक हस्तक्षेप बन जाती है। वे शास्त्रीय संदर्भ, पौराणिक क्रम, वैदिक उल्लेख और अवतारवाद के ऐतिहासिक विकास पर भी दृष्टि डालते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण', 'तैत्तिरीय संहिता', 'ऐतरेय ब्राह्मण', 'हरिवंश', 'विष्णु पुराण' और भागवत-परंपरा के उदाहरण देते हुए वे दिखाते हैं कि अवतारवाद स्थिर तत्त्व के रूप में नहीं, कालक्रम में विकसित,

रूपांतरित और पुनर्रचित अवधारणा के रूप में रहा है। अर्थात् मण्डलजी का तर्क भावावेश पर आधारित नहीं है। वे स्रोत, इतिहास और परंपरा की आंतरिक गति पर विचार करते हैं। यही बात उनके चिंतन को दार्शनिक गंभीरता प्रदान करती है।

मण्डलजी के अनुसार अवतारवाद मनुष्य में हीन-भावना लाता है। उनके विचार में इसका सबसे गंभीर दुष्परिणाम यह है कि यह मनुष्य के आत्मविश्वास, नैतिक सक्रियता और ऐतिहासिक उत्तरदायित्व को कमजोर करता है। यदि समाज संकट, अन्याय या विघटन के क्षण में अपनी शक्ति, विवेक और सामूहिक प्रतिरोध पर भरोसा छोड़कर दैवी अवतरण की प्रतीक्षा में खड़ा रहेगा, तो परिवर्तन की संभावना शिथिल हो जाएगी। इसी कारण मण्डलजी का आग्रह है कि अन्याय, संकट और परिवर्तन के क्षणों में मनुष्य अपने विवेक, श्रम, नैतिक साहस और सामूहिक शक्ति पर भरोसा करे। लेखक साफ कहते हैं कि धरती पर मनुष्य ही सबसे बलशाली सत्ता है; काम, क्रोध, राग, द्वेष जैसे दुर्गुणों पर विजय पाकर मनुष्य अपने भीतर उच्चतर नैतिक सत्ता का अनुभव कर सकता है। इस प्रकार मण्डलजी अवतारवाद के प्रतिपक्ष में मानवीय आत्मबल, नैतिक साधना और चेतन सक्रियता का दर्शन प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार यह लेख मिथकीय अवतारवाद के प्रतिपक्ष में मानवीय आत्मविकास का दर्शन प्रस्तुत करता है। इस प्रतिपक्ष को लेखक लोक-संत परंपरा से भी पुष्ट करते हैं। कबीर के 'बीजक' से उद्धृत पंक्तियों के माध्यम से वे दिखाते हैं कि भारतीय चिंतन-परंपरा में अवतारवाद का विरोध कोई नई बात नहीं है। ज्ञान, विवेक और आत्मबोध की परंपरा पहले से विद्यमान रही है। यहाँ मण्डलजी की तर्कशीलता केवल आधुनिक पाश्चात्य विवेक का प्रभाव नहीं लगती; वह भारतीय लोक-विवेक, संत-परंपरा और आत्मबोध की स्वदेशी धारा से भी जुड़ जाती है। कबीर का स्मरण इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि वे श्रद्धा के नाम पर विवेक के दमन को स्वीकार नहीं करते। इसीलिए मण्डलजी की तर्कशीलता स्थानीय न रहकर व्यापक भारतीय बौद्धिक परंपरा से संबद्ध दिखाई देती है। यह मानवतावादी तर्कशीलता प्रस्तुत

पुस्तक के दार्शनिक आधार को पहचानने के लिए केंद्रीय महत्त्व रखती है।

मण्डलजी की तर्कशील दृष्टि केवल धार्मिक मिथकों तक सीमित नहीं है। 'संस्कार और संस्कार गीत' शीर्षक लेख में भी वे परंपरा को प्रश्नरहित रूप में स्वीकार नहीं करते। वे संस्कार के शास्त्रीय अर्थ, सामाजिक उपयोग, जातिगत भिन्नता, व्यवहारगत असमानता और मिथिला के लोकजीवन में उसकी वास्तविक स्थिति पर विचार करते हैं। यहाँ वे कहते हैं कि संस्कार का नाम एक हो सकता है, पर समाज के विभिन्न वर्गों में उसका रूप, प्रयोजन और सामाजिक पहुँच भिन्न रहती है। मुंडन, उपनयन, विवाह, मृत्यु आदि संस्कारों के प्रसंग में और लोकगीतों की भनिताओं का विश्लेषण करते हुए मण्डलजी दिखाते हैं कि परंपरा कोई एकरस और सर्वसुलभ व्यवस्था नहीं है। समाज की अलग-अलग जातियों और वर्गों में एक ही संस्कार का रूप, रीति, मर्यादा, सामाजिक प्रतिष्ठा और व्यवहारगत पहुँच अलग-अलग रहती है। यहाँ स्त्री की उपस्थिति केवल सहभागी भर की नहीं रहती। वह संस्कृति की संवाहिका के रूप में प्रकट होती है, क्योंकि लोकगीत, भनिता, अनुष्ठानिक व्यवहार और पारिवारिक संस्कार की जीवित परंपरा को वह अपने श्रम, स्मृति और भावबोध से निरंतर बनाए रखती है। इस प्रकार मण्डलजी परंपरा को जड़, निर्विवाद या महिमामंडित धरोहर के रूप में नहीं देखते। वे उसे समाज के भीतर सक्रिय असमानता, सहभागिता और सांस्कृतिक प्रवाह से जुड़े जीवित सामाजिक तथ्य के रूप में परखते हैं। इस दृष्टि में भावुक महिमामंडन कम है, सामाजिक-सांस्कृतिक विवेचन अधिक प्रबल है।

'संस्कार और संस्कार गीत' के भीतर मण्डलजी की दार्शनिकता एक भिन्न रूप में दिखाई देती है। यहाँ वे संस्कृति को स्थिर, पवित्र और अपरिवर्तनीय मानकर नहीं चलते। वे पूछते हैं: मिथिला की संस्कृति किसकी संस्कृति है? संस्कार का सामाजिक आधार क्या है? लोकगीतों में एकरूपता क्यों नहीं मिलती? संस्कार और तंत्रसाधना का अंतर्संबंध किस रूप में बनता है? लोकपरंपरा और ब्राह्मणीकृत संरचना की घुलनशीलता कैसे विकसित होती है? ये प्रश्न उनकी सांस्कृतिक तर्कबुद्धि के परिचायक हैं। इस लेख से

समझ में आता है कि मण्डलजी परंपरा के भीतर दबे इतिहास के संकेत पढ़ते हैं। वे परंपरा को केवल आदर की वस्तु नहीं मानते, उसे विश्लेषण का विषय भी बनाते हैं। 'पयस्विनी' की दार्शनिक प्रकृति में यह विश्लेषणधर्मी स्वभाव महत्त्वपूर्ण योगदान देता है।

यह तर्कशीलता सामाजिक धरातल पर सबसे स्पष्ट रूप में 'वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष' में उद्घाटित होती है। यहाँ मण्डलजी इतिहास और सत्ता-संरचना की पृष्ठभूमि में भाषा-साहित्य की भूमिका को परखते हैं और वर्ग-विभाजन, जातिगत असमानता तथा सांस्कृतिक वर्चस्व की गुत्थी को एक साथ खोलते हैं। उनका तर्क है कि साहित्य समाज का दर्पण है। यदि साहित्य समाज के अधिकांश छूटे हुए हिस्से को अभिव्यक्त नहीं करता, तो उसका दर्पण अपूर्ण और पक्षपाती हो जाता है। गजेन्द्र ठाकुरजी के प्रश्न के उत्तर में भी मण्डलजी स्पष्ट करते हैं कि साहित्य में कुछ समाज की चर्चा आवश्यकता से अधिक हुई, पर समाज का बहुत बड़ा हिस्सा कटकर किनारे हो गया। वे अपने सृजन का उद्देश्य उस छूटे हुए समाज को पकड़कर लिखना मानते हैं। इस कथन से स्पष्ट होता है कि उनका वैचारिक प्रतिपक्ष केवल शास्त्रीय धर्ममत के विरुद्ध सक्रिय नहीं है, साहित्यिक वर्चस्व के विरुद्ध भी सक्रिय है।

मण्डलजी का वैचारिक प्रतिपक्ष मूलतः तीन स्तरों पर सक्रिय दिखाई देता है। पहला स्तर मिथकीय और आध्यात्मिक अंधस्वीकृति के विरुद्ध विवेक का प्रतिपक्ष है। दूसरा स्तर सांस्कृतिक प्रभुत्व के विरुद्ध लोक-आधारित पुनर्पाठ का प्रतिपक्ष है। तीसरा स्तर साहित्यिक मुख्यधारा के विरुद्ध छूटे, दबे, वंचित और आवाजहीन समाज के पक्ष में खड़ा प्रतिपक्ष है। इन तीनों स्तरों को एक सूत्र में बाँधा जाए तो उनके चिंतन का मूल आग्रह स्पष्ट होता है। वे जीवन के वास्तविक धरातल से कटी हुई आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक संरचनाओं पर अविश्वास करते हैं। वे अनुभव, समाज, मनुष्य, श्रम और जनजीवन के यथार्थ को प्रामाणिक धरातल मानते हैं।

प्रश्नोत्तर के अंश 'पयस्विनी' की दार्शनिक दृष्टि को और स्पष्ट करते

हैं। गजेन्द्र ठाकुरजी के प्रश्न पर मण्डलजी साहित्य को ऐसा दर्पण कहते हैं, जहाँ भूत, वर्तमान और भविष्य का दर्शन एक साथ होता है। इस कथन का साधारण अर्थ नहीं लगाना चाहिए। यहाँ साहित्य केवल सौंदर्यबोध की वस्तु नहीं रहता, समय-बोध का उपकरण बन जाता है। समाज की दशा और दिशा सबसे पहले लेखक को देखनी पड़ती है। पर यहाँ लेखक केवल प्रतिच्छवि नहीं बनाता। वह चयन करता है। वह उन ढँके हुए तथ्यों को देखता है, उन दिशाओं पर विचार करता है, जिन पर प्रायः किसी की दृष्टि नहीं गई। इस बात का उत्तर देते हुए मण्डलजी स्पष्ट कहते हैं कि मिथिलांचल का समाज ऐसे छिपे हुए तथ्यों से भरा है, जिनकी ओर देखने वाला कोई नहीं हुआ। यह कथन उनके सृजन-दर्शन का मूल सूत्र है। दर्शन यहाँ अदृश्य सत्य की खोज करता है और दबे यथार्थ के उद्घाटन की क्रिया बन जाता है।

मण्डलजी की तर्कशीलता और मानवीयता के बीच घनिष्ठ संबंध है। उनके लिए पाप-पुण्य कोई शुष्क धार्मिक कोटि नहीं है। प्रश्नोत्तर में वे इसे सामाजिक व्यवहार और मानवीय आचरण के आधार पर देखते हैं। परोपकार धर्म है और परपीड़ा पाप, यह सरल विवेक उनके लिए जीवित नैतिक कसौटी है। यह विचारधारा 'अवतारवाद' में भी प्रतिध्वनित हुई है, जहाँ हिंसा, छल, दमन, शोषण और भ्रामक दैववाद की आलोचना होती है। जीवन-वृत्त में दर्ज उनका साहित्य-दर्शन भी इस बात की पुष्टि करता है कि वे मौन पीड़ा को स्वर देने के पक्षधर हैं और लेखन को प्रतिबद्धता की अनुशासित साधना मानते हैं। अतः उनकी तर्कशील दृष्टि केवल निषेध-भाव से उत्पन्न नहीं हुई है। इसकी मूल प्रेरणा मानवीय गरिमा, लोकमुक्ति और सामाजिक जागरूकता है।

मण्डलजी के वैचारिक प्रतिपक्ष का एक अन्य स्वर सामाजिक-भाषिक चेतना में सुनाई देता है। 'वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष' शीर्षक लेख में भाषा और साहित्य के संबंध पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण है और भाषा संवाद का माध्यम। इस कथन में भाषिक राजनीति, सांस्कृतिक असमानता और साहित्यिक प्रतिनिधित्व का प्रश्न छिपा है। भाषा, समाज और साहित्य को

वे अलग-अलग इकाई नहीं मानते। वे उन्हें एक साझा सामाजिक संरचना के रूप में देखते हैं। इसीलिए उनके लिए मैथिली को मात्र भावनात्मक पहचान के रूप में बचा लेना पर्याप्त नहीं है। उसका सामाजिक लोकतंत्रीकरण, जनसंपर्क, जीवनानुकूल पाठ्यचर्या, उपेक्षित रचनाकारों का उभार और दबे हुए समाज की आवाज साहित्य के आवश्यक क्षेत्र बन जाते हैं। इस बिंदु पर जगदीश प्रसाद मण्डलजी का चिंतन सांस्कृतिक प्रतिरोध से आगे बढ़कर सामाजिक पुनर्गठन की दिशा में प्रवेश करता है।

'पयस्विनी' के दार्शनिक पक्ष का मूल्यांकन करते समय इस बिंदु को विशेष रूप से रेखांकित करना आवश्यक है कि मण्डलजी दुरूह दार्शनिक शब्दावली का सहारा नहीं लेते। उनका चिंतन लोकानुभव की तह से उठता है। प्रश्न सरल हैं, पर उनके भीतर गंभीर वैचारिक कंपन है। ईश्वर यदि सर्वदयालु है, तो हिंसा कैसे? संस्कार यदि समाज की धरोहर है, तो असमानता क्यों? साहित्य यदि दर्पण है, तो समाज का एक तबका बाहर क्यों है? यदि भाषा अपनी है, तो वह समाज से कटकर प्रतिष्ठित क्यों रहे? ऐसे अनेक प्रश्न उनकी दार्शनिकता को लोक-आधारित बनाते हैं। इसमें विश्वविद्यालयी दुरूहता कम है, जीवनानुभव की आत्मीयता अधिक है। उनका चिंतन ऐसा बौद्धिक गठन नहीं करता, जो केवल सैद्धांतिक विमर्श के दायरे में सीमित रह जाए। वह जीवित मनुष्य की अनुभूति, सामाजिक विषमता, लोक-व्यवहार और प्रत्यक्ष जीवन-संघर्ष से अपना अर्थ ग्रहण करता है। फलस्वरूप उनका विचार एक ओर सामान्य पाठक को अपनी सहजता, आत्मीयता और अनुभव-सापेक्ष सच्चाई के कारण छूता है, तो दूसरी ओर शोधार्थी और गंभीर अध्येता को गहन विश्लेषण, पुनर्विचार और आलोचनात्मक मनन का पर्याप्त अवकाश भी देता है। इस प्रकार उनकी दार्शनिकता बौद्धिक रूप से गंभीर होते हुए भी जीवन से कटी हुई नहीं लगती। वह लोकानुभव में प्रतिष्ठित वैचारिक संवेदना के रूप में सामने आती है।

मण्डलजी की तर्कशील दृष्टि और वैचारिक प्रतिपक्ष को उनके समग्र कृतित्व के आलोक में देखने पर यह पक्ष और स्पष्ट हो उठता है। उनकी

रचनाधर्मिता की मुख्य विशेषता ग्राम्य यथार्थ के प्रामाणिक चित्रण, स्त्री-विमर्श की संवेदनशील उपस्थिति, दलित-चेतना की सजग अभिव्यक्ति, मौन और उपेक्षित पात्रों को स्वर देने की प्रवृत्ति तथा लोकबोली-आधारित संवादपरक भाषा के सजीव प्रयोग में देखी जा सकती है। इस व्यापक साहित्यिक आधार के प्रकाश में जब 'पयस्विनी' की वैचारिक रचनाएँ पढ़ी जाती हैं, तब स्पष्ट समझ में आता है कि उनका कथा-साहित्य जीवन के जिस यथार्थ, तनाव, विषमता और मानवीय जिजीविषा को कथात्मक रूप में उपस्थित करता रहा, इस पुस्तक के लेख उन्हीं अनुभवों की वैचारिक व्याख्या और प्रतिपक्षधर्मी अर्थ-संरचना प्रस्तुत करते हैं।

इसी कारण 'पयस्विनी' को कथा-साहित्य से अलग किसी आकस्मिक बौद्धिक उपक्रम के रूप में देखना उचित नहीं होगा। इसे उनकी समग्र रचनाशीलता का स्वाभाविक वैचारिक विस्तार मानना अधिक उपयुक्त है। उनका चिंतन लोकजीवन से अलग अमूर्त मनन नहीं है। वह गाँव, समाज, संस्कृति, भाषा, असमानता और मानवीय संघर्ष के प्रत्यक्ष अनुभव से निर्मित चेतना है। वही चेतना कथा-संसार, सामाजिक विमर्श, सांस्कृतिक विवेचन और प्रतिपक्षधर्मी दृष्टि में समान रूप से गतिशील रहती है। यहीं मण्डलजी के रचनात्मक व्यक्तित्व की भीतरी एकता सबसे अधिक समझ में आती है।

मण्डलजी की सामाजिक दृष्टि प्रतिरोध तक सीमित नहीं रहती। वह रचनात्मक सांस्कृतिक सक्रियता का आग्रह भी करती है। उनके अनुसार भाषा, साहित्य और संस्कृति की रक्षा बाहरी आश्रय पर निर्भर नहीं है; वह अपने सामूहिक प्रयास से संभव होती है। इस संदर्भ में वे राजनन्दन लाल दास के व्यक्तित्व का उदाहरण देते हैं, जिन्होंने अपने बल पर दीर्घकाल तक पत्रिका के संपादन का कार्य संभाला। चन्द्रमोहन कर्ण का उल्लेख भी करते हैं, जो मिथिला से दूर रहते हुए भी मैथिल रचनाकारों के लिए मंच तैयार करते हैं। इस दृष्टि से हाशिये के समाज का संघर्ष नकारात्मक टकराव के रूप में नहीं, आत्म-जागरण, सांस्कृतिक संगठन और जन-आधारित पुनर्निर्माण की प्रक्रिया के रूप में प्रकट होता है।

इस अध्याय से निष्कर्ष रूप में यह स्पष्ट होता है कि 'पयस्विनी' के दार्शनिक प्रश्न लेखक की वैचारिक सजगता के प्रमाण हैं। इसकी तर्कशील दृष्टि अंधस्वीकार के प्रतिलोम के रूप में उद्घाटित होती है। इसका वैचारिक प्रतिपक्ष धार्मिक-मिथकीय संरचना, सांस्कृतिक वर्चस्व, साहित्यिक संकीर्णता और सामाजिक बहिष्करण आदि को एक साथ चुनौती देता है। मण्डलजी के चिंतन का केंद्र मनुष्य, समाज, लोकानुभव, नैतिक विवेक और छूटे हुए जनजीवन की पक्षधरता है। इस अर्थ में 'पयस्विनी' मैथिली गद्य-परंपरा में विवेक, प्रतिरोध और जन-सरोकार का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज प्रतीत होती है। ❑

पयस्विनी में संस्कृति, संस्कार, लोकजीवन और लोक-चेतना

✳

'पयस्विनी' का सांस्कृतिक पक्ष जगदीश प्रसाद मण्डलजी के वैचारिक गद्य का अत्यंत महत्त्वपूर्ण धरातल प्रस्तुत करता है। इस पुस्तक में संस्कृति कोई सजावटी शब्द बनकर नहीं आती; वह जीवन, समाज और लोकानुभव को समझने का गंभीर आधार बनकर सामने आती है। मण्डलजी संस्कृति को लोकजीवन के व्यवहार, सामुदायिक स्मृति, सामाजिक संबंध और अनुभवजन्य जीवन-दृष्टि से जोड़कर देखते हैं। इसलिए 'पयस्विनी' में सांस्कृतिक विमर्श केवल परंपरा के वर्णन तक सीमित नहीं रहता; वह समाज की भीतरी संरचना, उसके ऐतिहासिक निर्माण और बदलते रूप की सूक्ष्म पहचान बन जाता है। विशेष रूप से 'संस्कार और संस्कार गीत' लेख में मण्डलजी मिथिला के सांस्कृतिक जगत को भीतर से परखते हैं। वे संस्कार का शास्त्रीय अर्थ देते हैं, उसके सामाजिक प्रयोजन पर विचार करते हैं, लोकजीवन में उसकी वास्तविक स्थिति पर प्रश्न उठाते हैं और अंततः उसे लोक-संस्कृति के जीवित रूप से जोड़ देते हैं। इस दृष्टि से 'पयस्विनी' में संस्कृति-चिंतन भावुक प्रशंसा के रूप में नहीं, विवेकपूर्ण परीक्षण और आम जन के पक्ष में विकसित विचार के रूप में सामने आता है।

मण्डलजी संस्कार की चर्चा एक विचारोत्तेजक स्तर से आरंभ करते हैं। उनके अनुसार संस्कार कल्पना भी है और जीवन-व्यवहार की प्रक्रिया भी। धर्मशास्त्रीय अर्थ में यह शरीर, मन और वृत्ति के परिष्कार से जुड़ा है, जबकि मनोवैज्ञानिक अर्थ में इसे अनुभव की अव्यक्त छाप के रूप में देखा

जाता है। इसी आधार पर वे आश्वलायन के गृहसूत्र में ग्यारह, याज्ञवल्क्य के मत से बारह और गौतम के मत से अड़तालीस संस्कारों का उल्लेख करते हैं। इसके साथ ही सन् 1901 की जनगणना-रिपोर्ट और मिथिला में सोलह संस्कारों की मान्यता की चर्चा करते हुए वे यह तथ्य सामने लाते हैं कि व्यावहारिक जीवन में इतनी विस्तृत संस्कार-व्यवस्था सक्रिय रूप में उपस्थित नहीं रही। जन्म, मुंडन, उपनयन, विवाह और मृत्यु जैसे कुछ ही संस्कार प्रचलित रहे, वह भी सभी जातियों में समान रूप से नहीं। इस विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि जगदीश प्रसाद मण्डलजी शास्त्रीय विधान और लोक-व्यवहार के बीच की दूरी को अत्यंत सजग दृष्टि से पकड़ते हैं।

इस संदर्भ में मण्डलजी की कथा 'संस्कार' भी स्मरणीय है, क्योंकि इस कथा में संस्कार को केवल धार्मिक अनुष्ठान, जातिगत मर्यादा, बाहरी शिष्टाचार या परंपरागत व्यवहार के नाम के रूप में नहीं, मनुष्य की भीतरी चेतना के परिष्कार के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। कथा में यह स्थापना है कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर अच्छे और बुरे के बीज आरंभ से ही मौजूद रहते हैं; अंतर केवल इतना होता है कि परिवार, समाज, अभ्यास और आत्मचेतना के माध्यम से किस पक्ष को उभारा जाता है। इस अर्थ में संस्कार जन्म के बाद आरोपित कोई रिक्त शिक्षण-प्रक्रिया नहीं, व्यक्तित्व की अंतर्निहित संभावनाओं के मानवीय परिमार्जन की क्रमिक प्रक्रिया है।

कथा में रमानन्द बाबा के माध्यम से यह विचार मार्मिक ढंग से व्यक्त हुआ है कि संस्कार जीवन की अमूल्य चेतना है, जो मनुष्य के विचार, व्यवहार, कर्म, दृष्टिकोण और संबंध-बोध, सबको प्रभावित करती है। स्वार्थ की सीमा निर्धारित करना, एकाग्रता का विकास, संकल्प-शक्ति, सद्भावना, आत्मानुशासन और उदार दृष्टि का विस्तार संस्कार के मूल आधार माने गए हैं। इस दृष्टि से 'संस्कार' कथा 'पयस्विनी' में प्रतिपादित संस्कार-विमर्श को मनोवैज्ञानिक, नैतिक और सामाजिक धरातल पर एक जीवित साहित्यिक उदाहरण प्रदान करती है।

साथ ही, खुशीलाल को "संस्कारहीन" कहे जाने का प्रसंग यह भी उद्घाटित करता है कि समाज में कई बार संस्कार की भाषा नैतिक परिमार्जन

के लिए नहीं, जातीय अहंकार, सामाजिक वर्चस्व और अपमान के औजार के रूप में भी प्रयुक्त होती रही है। कथा इस प्रवृत्ति का भीतर से प्रतिवाद करती है और यह स्थापित करती है कि वास्तविक संस्कार बाहरी श्रेष्ठताबोध में नहीं, हीनभावना और अहंभावना, दोनों से मुक्त होकर मानवीय संवेदना, समताबोध और सजग जीवन-दृष्टि के विकास में निहित है।

इस संदर्भ में मण्डलजी की एक महत्त्वपूर्ण स्थापना यह है कि संस्कार के चयन, नामकरण और सामाजिक स्वीकृति के पीछे केवल धार्मिक भावना नहीं, संगठित सामाजिक उद्देश्य भी सक्रिय रहा। उनके मतानुसार संस्कार का शासन जीवन-पद्धति को नियंत्रित, मर्यादित और आदर्शोन्मुख बनाने का प्रयत्न था। आर्य-अनार्य के घालमेल से उत्पन्न सामाजिक स्थिति में अस्मिता को सुरक्षित रखने वाला ब्राह्मणवादी चिंतन संस्कार-व्यवस्था में अंतर्निहित रहा। इस प्रकार मण्डलजी संस्कार को निष्कपट पवित्र परंपरा के रूप में स्वीकार नहीं करते; वे उसके भीतर सामाजिक संगठन, मर्यादा-नियमन और सांस्कृतिक प्रभुत्व की प्रक्रिया को भी देखते हैं। यहाँ 'पयस्विनी' का संस्कार-विमर्श श्रद्धा-प्रधान वर्णन से आगे बढ़कर आलोचनात्मक सामाजिक विवेचन बन जाता है।

जगदीश प्रसाद मण्डलजी की सांस्कृतिक दृष्टि का केंद्रीय गुण यह है कि वे मिथिला की संस्कृति को एकरूप, स्थिर और निर्विवाद सत्ता के रूप में नहीं देखते। मिथिला के इतिहास की पृष्ठभूमि में वे किरात-कौल्ह, आर्यीकरण, द्विज-सत्ता, क्षत्रिय राजसत्ता और ब्राह्मण की समाज-सत्ता के प्रसंग उठाते हैं। प्रतिलोम विवाह, ब्राह्मणीकरण और मूलवासियों की जीवन-शैली के घालमेल का संकेत देते हुए वे मूल प्रश्न करते हैं कि आज जिसे 'मैथिल संस्कृति' कहा जा रहा है, वह वस्तुतः किसकी संस्कृति है? उनके अनुसार बहुसंख्य मूलवासियों पर नव-संस्कृति का आरोपण अवश्य हुआ, पर मूलवासियों की जीवन-रीति पूर्णतः समाप्त नहीं हुई। वह "दूब की तरह मिट्टी पकड़े" रही, और इसे लोक-संस्कृति कहा जा सकता है। इस विश्लेषण से समझ में आता है कि मण्डलजी मिथिला की सांस्कृतिक पहचान को इतिहास, सत्ता और लोकजीवन के त्रिकोण में रखकर देखते

हैं।

इस सांस्कृतिक निर्माण के संदर्भ में मण्डलजी की दृष्टि अत्यंत सूक्ष्म है। उनके अनुसार जो संस्कृति बाहर से थोपी जाती है, वह लोकजीवन में ज्यों-की-त्यों नहीं रहती; लोक उसे अपनी परिस्थिति, अनुभव और भावबोध के अनुसार अपनाता और बदलता रहता है। इसी कारण गीत, बोली, लोकाचार, पर्व-त्योहार और सामुदायिक संवेदना के माध्यम से लोक-संस्कृति निरंतर अपनी उपस्थिति बनाए रखती है। मण्डलजी इसी जीवित लोक-उपस्थिति को संस्कृति का वास्तविक आधार मानते हैं। इसलिए उनके लिए मिथिला की संस्कृति केवल शास्त्र, पुराण, ग्रंथ या अभिजन-व्यवहार में सीमित नहीं है; वह मिट्टी, गाँव, लोककंठ, पर्व-त्योहार, गीत और सामूहिक जीवन-व्यवहार में जीवित रहती है।

संस्कार के व्यावहारिक पक्ष पर भी मण्डलजी की दृष्टि विशेष उल्लेखनीय है। मिथिला में सोलह संस्कारों का विधान मान्य है, पर व्यवहार में वह सर्वत्र समान रूप से सक्रिय नहीं है। उपनयन सभी जातियों का सामान्य संस्कार नहीं है। मुंडन के रूप अनेक हैं। कोई देवस्थान जाकर मुंडन कराता है, कोई गंगा-तट पर, कोई गाँव में ही कबूला-पाती देकर; कहीं गीत-नाद और पूजा-पाठ के साथ, तो कहीं ऐसे अनुष्ठान के बिना। विवाह-व्यवहार में भी जाति और समुदाय के अनुसार भिन्नता है, और मृत्यु-संस्कार भी एकरूप नहीं। इस निरीक्षण का महत्त्व इस बात में है कि मण्डलजी शास्त्रीय विधान और सामाजिक व्यवहार के बीच की दूरी को स्पष्ट करते हैं। लोकजीवन लिखित व्यवस्था के आधार पर यांत्रिक रूप से संचालित नहीं होता; समाज अपनी परिस्थिति, जातिगत स्थिति, आर्थिक अवस्था, स्थानीय परंपरा और व्यावहारिक विवेक के अनुसार संस्कार का रूप बदलता रहता है।

लोकजीवन का प्रश्न सबसे सघन रूप में 'संस्कार गीत' की चर्चा में विकसित होता है। मण्डलजी के अनुसार संस्कार गीत विभिन्न संस्कारों के प्रसंग में गाए जाने वाले लोक-प्रचलित गीत हैं। लोकगीत की आत्मा संस्कार गीत में बसती है। यदि संस्कार गीत को लोकगीतों की फुलवारी से हटा दिया

जाए, तो लोकजीवन का सांस्कृतिक रंग फीका पड़ जाएगा। यह स्थापना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे स्पष्ट होता है कि गीत मिथिला के सांस्कृतिक जीवन में मनोरंजन की वस्तु भर नहीं हैं; वे संस्कार-चेतना के अभिन्न अंग हैं। संस्कार के अवसर पर सामूहिक भाव-संवेदना को स्वर मिलता है, और गीत उस सामूहिकता को लय, भाषा, स्मृति और राग प्रदान करते हैं।

मृत्यु-संस्कार को छोड़कर अन्य अधिकांश संस्कार आनंदोत्सव के माहौल में मनाए जाते हैं। इन अवसरों पर नारी-कंठ से निकलने वाली स्वरलहरी देह में थिरकन, हृदय में झंकार और मन में चंचलता भर देती है। मण्डलजी इस दृश्य को केवल वर्णनात्मक रूप में नहीं, सांस्कृतिक महत्त्व के रूप में सामने लाते हैं। मिथिला के नर-नारी गीत-गायन को सहजात गुण के रूप में जीवित रखते हैं। मुंडन, उपनयन, विवाह और धार्मिक अवसरों पर सामूहिक गायन की परंपरा लोकजीवन की एकता, सहभागिता और उत्सवधर्मिता की परिचायक है। यहाँ संस्कृति केवल पुस्तक या लिखित पाठ में सुरक्षित नहीं रहती; वह सामूहिक गायन के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रवाहित होती है। समाज इसी सामूहिक कंठ के माध्यम से अपने भाव, विश्वास, आनंद और स्मृति को साझा रूप में अनुभव करता है। इसलिए गीत; संस्कार और लोक-चेतना का अत्यंत सहज और व्यापक माध्यम बन जाता है।

मण्डलजी लोकगीत की प्रकृति पर विचार करते हुए स्पष्ट कहते हैं कि संस्कार गीत लोकगीत का अंग हैं और लोककंठ ही उसका वास्तविक निवास-स्थान है। एक कंठ से दूसरे कंठ तक जाते-जाते गीत का स्वरूप, भाषा, पंक्ति-विन्यास और भनिता बदलती रहती है। इसलिए संस्कार गीतों में एकरूपता का अभाव स्वाभाविक है। गीत गाने वाली स्त्रियाँ कई बार किसी रचना में अपने मन से किसी दूसरे कवि का नाम जोड़ देती हैं। विद्यापति, उमापति, चंदा झा और मनबोध के नाम परस्पर अदल-बदल जाते हैं, और तुलसी, सूर, मीरा जैसे बाहरी कवि भी मिथिला के लोककंठ में आकर अपने बन जाते हैं। इस विश्लेषण से मण्डलजी लोकपरंपरा के

प्रवाहशील, सामूहिक और पुनर्सृजनशील स्वरूप को प्रभावकारी ढंग से उद्घाटित करते हैं। लोकगीत के संसार में रचनाकार के स्थिर अधिकार से अधिक लोक की सामूहिक स्वीकृति और कंठगत परंपरा का महत्त्व रहता है।

मण्डलजी संस्कार गीत में स्त्री की भूमिका को केवल सहभागी रूप में नहीं, सांस्कृतिक संवाहिका के रूप में देखते हैं। सोहर, विवाह-गीत, गोसाउनि गीत, मुंडन-गीत और अन्य संस्कार-गीतों के माध्यम से स्त्री केवल गीत गाने वाली नहीं रहती; वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्मृति, भाषा, रीति, लोकविश्वास और भाव-संस्कार की संरक्षिका बनकर उभरती है। इस रूप में उसका सांस्कृतिक श्रम मिथिला की मौखिक ज्ञान-परंपरा को जीवित रखता है। उनका स्पष्ट कथन है कि संस्कार गीत मैथिल महिलाओं की परिष्कृत सांस्कृतिक चेतना के परिचायक हैं। मिथिला की सामाजिक संरचना में जब नारी के लिए औपचारिक शिक्षा वर्जित थी, तब संस्कार गीत सांस्कृतिक ज्ञान, सामाजिक व्यवहार, भावात्मक अभिव्यक्ति और पीढ़ी-दर-पीढ़ी परंपरा-संक्रमण की अनौपचारिक पाठशाला बने। मण्डलजी इस बिंदु पर यह भी स्पष्ट करते हैं कि यह निषेध केवल नारी तक सीमित नहीं था; मिट्टी से जुड़े लोक के लिए भी ज्ञान के औपचारिक स्रोत सहज उपलब्ध नहीं थे। ऐसी स्थिति में संस्कार गीत संस्कृति, साहित्य और समाज के अंतर्संबंध को जीवित रखने वाले लोकमाध्यम बने।

इस अवलोकन का सामाजिक महत्त्व व्यापक है। समाज का बहुत बड़ा हिस्सा जब लिखित ज्ञान-व्यवस्था से बाहर रखा गया, तब मौखिक परंपरा अस्मिता, स्मृति और सांस्कृतिक निरंतरता का आधार बनी। गीत यहाँ इतिहास का विकल्प, शिक्षा का माध्यम, समाजीकरण की प्रक्रिया, स्मृति का भंडार और सामूहिक संवेदना की पाठशाला के रूप में उपस्थित होते हैं। इस दृष्टि से 'पयस्विनी' में स्त्री के सांस्कृतिक श्रम और लोक की मौखिक ज्ञान-परंपरा का मूल्यांकन अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन जाता है। 'पयस्विनी' में लोक-चेतना का यह अर्थ अत्यंत जीवित, सामाजिक और जनपक्षीय रूप में प्रकट हुआ है।

मण्डलजी का संस्कृति-विमर्श धर्मभावना के स्तर पर अत्यंत सूक्ष्म, ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक है। उनके अनुसार मिथिला में संस्कार गीत का आरंभ प्रायः गोसाउनि गीत से होता है। यह तथ्य साधारण लोक-रीति तक सीमित नहीं, मिथिला की धार्मिक-सांस्कृतिक संरचना का गहरा संकेत है। संस्कार के अवसर पर भगवान के गीत भी गाए जाते हैं, पर भगवती अथवा गोसाउनि गीत की प्रधानता विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। देवी-केंद्रित लोकगीत मिथिला के स्त्री-अनुभव, पारिवारिक मंगल, लोकविश्वास और सामूहिक रक्षा-बोध से गहरे रूप में जुड़े हैं। इसमें धर्म केवल पूजा-विधान नहीं रहता; वह परिवार, समाज और लोक-स्मृति को जोड़ने वाली भाव-व्यवस्था बन जाता है। मण्डलजी इस बिंदु पर प्रश्न उठाते हैं कि संस्कार जैसे सामाजिक-धार्मिक अवसर पर भगवती-केंद्रित गीत-गायन का विशेष महत्त्व क्यों है? इस प्रश्न के माध्यम से वे मिथिला की धर्मपरंपरा को केवल वैदिक या ब्राह्मणवादी व्यवस्था तक सीमित नहीं रखते, उसे तंत्रसाधना, शाक्त चेतना, शैव परंपरा, पंचदेवोपासना और लोकधर्म की समन्वित परंपरा से जोड़कर देखते हैं।

लोकजीवन और भाषा-संरचना के बीच का संबंध भी मण्डलजी की चर्चा में महत्त्वपूर्ण रूप से प्रकट होता है। उनके अनुसार मिथिला में गीत की भाषा सामान्य बोलचाल से भिन्न और विशिष्ट होती है, और संस्कार-गीत इस भाषिक समृद्धि के महत्त्वपूर्ण भंडार हैं। लोकपरंपरा में प्रत्येक गीत का अपना प्रसंग, भावभूमि और उपयोगिता होती है। यही कारण है कि कुमार-गीत और कुमारी-गीत एक नहीं हैं, सोहर और खेलौना भी परस्पर भिन्न हैं। पर जब लोकपरंपरा का सूक्ष्म ज्ञान क्षीण हो जाता है, तब एक ही गीत का प्रयोग अलग-अलग अवसरों पर होने लगता है। इन टिप्पणियों से स्पष्ट होता है कि लोकजीवन की भाषा अत्यंत प्रसंगानुकूल, स्थितिसापेक्ष और सांस्कृतिक संकेतों से भरी रहती है। लोक-चेतना केवल विचार के स्तर पर नहीं, भाषिक व्यवहार, सामूहिक गायन और प्रसंगानुकूल अभिव्यक्ति के स्तर पर भी निर्मित होती है। इस कारण उनका संस्कार-चिंतन भाषिक और सांस्कृतिक अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि मण्डलजी की समग्र रचनाशीलता ग्राम्य जीवन से व्यावहारिक रूप में अत्यंत गहराई से जुड़ी है। यही कारण है कि आलोचकों ने जगदीश प्रसाद मण्डल को ग्राम्य जीवन का अनुभवी चित्रकार, जीवित लोक-समाज का गहरा रेखांकनकर्ता और समानांतर लोक-संसार का सर्जक कहा है। यह मूल्यांकन 'पयस्विनी' के सांस्कृतिक लेखों पर भी लागू होता है। उनके गद्य-लेखों में लोकानुभव का वैचारिक और सांस्कृतिक विवेचन उपलब्ध होता है। मिथिला का गाँव, कृषि-संस्कृति, आत्मनिर्भर जीवन, लोकधर्मी व्यवहार और वंचित समाज की भीतरी संरचना उनके लेखन का स्थायी आधार रहे हैं। इसी कारण 'पयस्विनी' में संस्कृति, लोकजीवन और लोक-चेतना की चर्चा बाहरी अवलोकन पर आधारित नहीं, भीतर से अर्जित अनुभव पर आधारित प्रतीत होती है।

मण्डलजी के संस्कृति-बोध का उल्लेखनीय पक्ष यह है कि वे लोकजीवन का गौरव भी देखते हैं, और उसके भीतर की विषमता और जटिलता को अनदेखा भी नहीं करते। उपनयन की सीमित पहुँच, मुंडन के असमान रूप, विवाह-व्यवस्था की विविधता, मृत्यु-संस्कार पर प्रश्न, गीत में भनिता का बेलगाम प्रयोग, अलग-अलग प्रसंगों के गीतों का उलट-पुलट व्यवहार और सांस्कृतिक आरोपण का इतिहास, ये सभी उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं। लोकजीवन उनके लिए केवल पवित्र अवशेष नहीं, एक जटिल जीवित सामाजिक संरचना है। इसलिए उनकी लोक-चेतना रोमानी लोकवाद नहीं बनती, विवेकपूर्ण लोकपक्ष बनती है। वे लोक को केवल भावुक गौरव का विषय नहीं बनाते; उसके अनुभव, संघर्ष, स्मृति, भूल, परिवर्तन और रचनात्मक शक्ति को एक साथ देखते हैं।

'पयस्विनी' में संस्कृति, संस्कार, लोकजीवन और लोक-चेतना का पूरा विमर्श अंततः जनपक्षीय धरातल पर केंद्रित होता है। यदि संस्कृति केवल प्रभुत्वशाली वर्ग के विधान, भाषा और व्यवहार का नाम रह जाए, तो समाज का बड़ा हिस्सा उससे बाहर रह जाएगा। मण्डलजी इसी कारण लोकजीवन की ओर बढ़ते हैं। संस्कार गीत में नारी-कंठ, लोकभाषा, मौखिक परंपरा, सामूहिक गायन, जातिगत जीवन-रूप, सांस्कृतिक

समावेशन और इतिहास के अवशेष आदि को वे सांस्कृतिक सत्य के रूप में दर्ज करते हैं। इस प्रकार लोक-चेतना यहाँ सांस्कृतिक लोकतंत्र का आधार बन उठती है। संस्कृति जितनी पुस्तक-पोथी में है, उतनी ही गाँव के व्यवहार में भी है। संस्कार जितना शास्त्र में है, उतना ही लोकजीवन की रूपांतरित क्रिया में भी है। गीत जितना शब्द में है, उतना ही सामूहिक अनुभव में भी है।

इस अध्याय के निष्कर्ष रूप में समझ आता है कि 'पयस्विनी' में संस्कृति, संस्कार, लोकजीवन और लोक-चेतना का विमर्श सघन, बहुस्तरीय और गहरे मानवीय धरातल पर विकसित हुआ है। जगदीश प्रसाद मण्डलजी संस्कार को समाज की संरचनात्मक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं, संस्कृति को ऐतिहासिक निर्माण के रूप में परखते हैं, लोकगीत को सामूहिक रचना-परंपरा के रूप में समझते हैं, स्त्री को सांस्कृतिक संवाहिका के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं और लोक-चेतना को अनौपचारिक शिक्षा का जीवित स्रोत मानते हैं। साथ ही, मिथिला की सांस्कृतिक पहचान पर प्रश्न उठाते हुए वे एक विवेकपूर्ण लोकपक्ष विकसित करते हैं। इस दृष्टि से 'पयस्विनी' मैथिली गद्य-परंपरा में संस्कृति-अध्ययन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण लोकधर्मी पाठ मानी जा सकती है। ❑

पयस्विनी में हाशिये का समाज, वर्चस्व-विमर्श और सामाजिक प्रतिरोध

‘पयस्विनी’ के सामाजिक चिंतन के केंद्र में मनुष्य है, पर यह मनुष्य कोई अमूर्त दार्शनिक इकाई नहीं है। यह वह मनुष्य है जिसे समाज के किनारे धकेल दिया गया है, जिसके श्रम से समाज का आधार निर्मित होता है, पर जिसकी आवाज साहित्य, संस्कृति और सार्वजनिक विमर्श में समान मान्यता नहीं पाती। मण्डलजी की दृष्टि इसी उपेक्षित, दबे और वंचित मनुष्य की ओर निरंतर मुड़ती है। वे समाज को ऊपर से नहीं, उस जगह से देखते हैं जहाँ पीड़ा, परिश्रम, असमानता और मौन संघर्ष एक साथ सक्रिय रहते हैं।

‘वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष’ शीर्षक लेख ‘पयस्विनी’ का ऐसा केंद्रीय पाठ है, जिससे मण्डलजी की सामाजिक दृष्टि, सांस्कृतिक विवेक और प्रतिरोधधर्मी चेतना उद्घाटित होती है। इस लेख में उपेक्षित समाज के प्रश्न को वे सीमित शिकायत या क्षणिक असंतोष के रूप में नहीं देखते। वे उसे इतिहास, भाषा, संस्कृति, साहित्य और सत्ता-संरचना से जुड़े गंभीर प्रश्न के रूप में सामने लाते हैं। उनके लिए हाशिये के समाज का विषय केवल सहानुभूति का विषय नहीं, समाज के भीतरी गठन, प्रतिनिधित्व की असमानता और सांस्कृतिक वर्चस्व की समीक्षा का विषय है। फलस्वरूप ‘पयस्विनी’ में हाशिये के समाज का विमर्श करुणा से भरा भावोच्छ्वास न रहकर सजग, विचारसंपन्न और विश्लेषणपरक सामाजिक चिंतन का रूप धारण करता है।

मण्डलजी उपेक्षित समाज के प्रश्न को केवल वर्तमान सामाजिक असमानता से नहीं जोड़ते, उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी दिखाते हैं। मूल पाठ में वे स्पष्ट करते हैं कि उपेक्षित समाज पर वर्चस्ववादी संस्कृति युग-युग से जोर-जबरदस्ती करती आई है, और ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में सामंतवाद तथा ब्राह्मणवाद के उदय के साथ यह दमनात्मक संरचना और अधिक सुदृढ़ हुई। उनके अनुसार शोषण के रूप समय-समय पर बदलते रहे, पर मूल सत्ता-संरचना कायम रही। सामंतवाद, ब्राह्मणवाद, सामाजिक वर्चस्व और शक्ति-संबंधों के ऐतिहासिक विस्तार की ओर संकेत करते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि हाशिये के समाज का प्रश्न दीर्घ सामाजिक इतिहास की उपज है। इसलिए 'पयस्विनी' में सामाजिक प्रतिरोध भावनात्मक प्रतिक्रिया के रूप में नहीं, इतिहास-बोध पर आधारित वैचारिक प्रतिपक्ष के रूप में उभरता है।

मण्डलजी की मान्यता है कि शक्ति-संरचना हमेशा केवल राजनीतिक नियंत्रण या प्रत्यक्ष शासन-सत्ता के रूप में सामने नहीं आती; वह संस्कृति, भाषा, मान्यता और सामाजिक व्यवहार के माध्यम से भी सक्रिय रहती है। संस्कृति कई बार प्रभुत्व का औजार बन जाती है। जिसकी भाषा मानक मानी जाए, जिसकी जीवन-पद्धति सभ्यता घोषित की जाए और जिसका आचार-विचार प्रतिष्ठा का मापदंड बन जाए, वह समूह समाज के केंद्र पर अधिकार जमाने लगता है। जब उसकी स्मृति इतिहास और उसका साहित्य सबका प्रतिनिधि साहित्य बनकर प्रतिष्ठित होता है, तब बाकी लोकसमूह क्रमशः बाहर धकेल दिए जाते हैं। मण्डलजी का 'हाशिया' शब्द इसी बहिष्कृत स्थान का संकेत करता है।

मण्डलजी की दृष्टि में हाशिये के समाज का अर्थ केवल आर्थिक निर्धनता नहीं है। यह वह समाज है जो प्रतिनिधित्व से वंचित रहा; जिसकी भाषा को परिनिष्ठित भाषा नहीं माना गया, जिसकी संस्कृति को लोक के नाम पर सीमित कर दिया गया और जिसके जीवनानुभव साहित्य के केंद्र में नहीं आए। उसके सामाजिक प्रश्न गौण समझे गए और बार-बार उसे यही कहकर चुप कराया गया कि वह 'मुख्यधारा' के बाहर है। इस प्रकार हाशिये

का समाज एक संयुक्त सामाजिक, भाषिक, सांस्कृतिक और मानसिक स्थिति बन जाता है। मण्डलजी इस बहुस्तरीय हाशियाई अनुभव को गंभीर सामाजिक यथार्थ के रूप में चिह्नित करते हैं। इसी कारण उनके प्रतिरोध की भाषा केवल भावुक प्रतिक्रिया नहीं है; वह सामाजिक न्याय, समान भागीदारी और प्रतिनिधित्व के स्पष्ट आग्रह से संचालित है।

इस लेख में एक बुनियादी स्थापना भाषा और साहित्य के संबंध के माध्यम से उद्घाटित होती है। मण्डलजी स्पष्ट करते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण है और भाषा एक-दूसरे के बीच संवाद स्थापित करने का माध्यम। इस वाक्य का सामाजिक आशय अत्यंत गहरा है। यदि साहित्य दर्पण है, तो प्रश्न उठेगा कि वह किस समाज का दर्पण है? यदि भाषा संवाद का माध्यम है, तो यह भी पूछना होगा कि यह संवाद किन-किन लोकसमूहों के बीच स्थापित हो रहा है और किसकी आवाज इस संवाद में अनुपस्थित है। मण्डलजी की चिंता यहीं से आरंभ होती है। उनके यहाँ समस्या यह है कि भाषा और साहित्य उस समाज के हाथ में केंद्रित रहे जो बहुसंख्य लोकजीवन से दूर था। फलतः साहित्य में समाज का बड़ा हिस्सा अदृश्य रह गया। इसी अदृश्यता के विरोध से 'पयस्विनी' का सामाजिक प्रतिपक्ष जन्म लेता है।

यह बात भी रेखांकित करनी आवश्यक है कि मण्डलजी के लिए प्रतिनिधित्व का प्रश्न केवल विषय-चयन का प्रश्न नहीं है। यह ज्ञान, भाषा और साहित्य की संरचना से जुड़ा हुआ प्रश्न है। यदि समाज के बहुसंख्य लोकों का अनुभव साहित्य के भीतर स्थान नहीं पाता, तो समस्या केवल इतनी नहीं रहती कि कुछ जीवनानुभव छूट गए; समस्या यह भी बनती है कि साहित्य के नाम पर समाज का एकांगी रूप प्रतिष्ठित हो जाता है। इसलिए मण्डलजी की चिंता केवल हाशिये के लोगों को दिखाने भर से संबंधित नहीं है, बल्कि साहित्य के दर्पण को अधिक न्यायपूर्ण, अधिक समावेशी और अधिक जनपक्षीय बनाने से संबंधित है।

मण्डलजी भाषा के विकास के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा देते हुए एक गहरा सामाजिक सत्य उद्घाटित करते हैं। उनके अनुसार जनभाषा के

वैदिक रूप से लौकिक संस्कृत का निर्माण हुआ। लौकिक संस्कृत अल्पसंख्यक लोगों के बीच प्रतिष्ठित हुई और बहुसंख्य जनमानस उससे दूर रहा। उसके बाद पाली का उदय हुआ। जब पाली जनमानस से दूर हुई, तब अपभ्रंश सामने आया। इस ऐतिहासिक संकेत के माध्यम से लेखक प्रतिपादित करते हैं कि भाषा जब जीवन से कटती है, तब जीवन अपनी नई भाषा गढ़ता है और भाषा का इतिहास अपने-आप में जन-प्रतिरोध का इतिहास बन जाता है। इस बिंदु पर उनकी दृष्टि केवल भाषावैज्ञानिक नहीं है; वे भाषा को सामाजिक शक्ति-संबंधों की अभिव्यक्ति मानते हैं। जो भाषा लोकजीवन के साथ नहीं चलती, उसे अंततः जन-समुदाय चुनौती देता है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि भाषा पर अधिकार अंततः जीवन का होता है, सत्ता-केंद्र का नहीं। यही सोच हाशिये के समाज की भाषिक आत्मनिर्भरता की दिशा में महत्त्वपूर्ण संकेत देती है।

मण्डलजी इस भाषिक अनुभव को मैथिल समाज की वर्तमान स्थिति से जोड़कर देखते हैं। वे स्पष्ट करते हैं कि भाषा-संस्कृति की चर्चा भर से सामाजिक दूरी समाप्त नहीं होती। उनकी मान्यता है कि मैथिली भाषा और संस्कृति की चर्चा बहुत होती है, पर वर्चस्ववादी समाज और हाशिये पर खड़े समाज के बीच "हजारों कोस की दूरी" अब भी बनी हुई है। मूल लेख में यह बात अत्यंत मार्मिक रूप में व्यक्त हुई है: "वर्चस्ववादी और हाशिये पर खड़े समाज के बीच 'हजारों कोस की दूरी' है; भरे हाथ का जीवन और खाली हाथ का जीवन एक धारा में नहीं चल सकता।" इस कथन का आशय यह है कि भाषा समान होने पर भी सामाजिक अनुभव समान नहीं होते। भरे हाथ का जीवन संसाधन, प्रतिष्ठा, अवसर और सांस्कृतिक आत्मविश्वास का जीवन है; खाली हाथ का जीवन अभाव, श्रम, असुरक्षा, अपमान और प्रतिनिधित्व-वंचना का जीवन है। साहित्य यदि इस अंतर को नहीं पहचानेगा, तो वह समाज के संपूर्ण यथार्थ को व्यक्त नहीं कर सकेगा।

एक ही भाषा में लिखा गया साहित्य भी सभी वर्गों के अनुभव को अपने-आप बराबरी से प्रतिनिधित्व नहीं दे देता। यहीं मण्डलजी का हाशिया-विमर्श अधिक तीक्ष्ण बनता है, क्योंकि वे सामाजिक विषमता को

सांस्कृतिक या भाषिक आडंबर के भीतर ओझल होने देने के पक्ष में नहीं हैं। भाषा का प्रश्न उनके यहाँ व्याकरण, उच्चारण या शैली का प्रश्न नहीं रह जाता; वह जीवनस्थितियों, अवसर, सम्मान और साहित्यिक प्रतिनिधित्व से जुड़ जाता है। इसलिए मैथिली समाज में भाषिक लोकतंत्रीकरण उनके लिए सामाजिक न्याय का ही एक रूप है।

मण्डलजी के वर्चस्व-विमर्श का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वे मैथिल समाज के भीतर के भाषिक-सांस्कृतिक श्रेष्ठताबोध को भी चिह्नित करते हैं। मूल लेख में वे स्पष्ट करते हैं कि पूबरिया, पछबरिया, दछिनबरिया, बीचला हिस्सा और मधुबनी-दरभंगा केंद्रित परिनिष्ठितता के दावे बहुत अंश में भ्रमित विचार हैं। उनके अनुसार वास्तविकता यह है कि यदि एक गाँव-समाज में दस-बीस, पच्चीस-पचास जातियों के लोग रहते हैं, तो सबकी बोली-वाणी, सामाजिक जीवन और अनुभव में अंतर स्वाभाविक रूप से मौजूद रहेगा। तब किसी एक क्षेत्र या एक वर्ग के भाषा-रूप को श्रेष्ठ और बाकी सबको गौण ठहराना वर्चस्ववादी मानसिकता का परिचायक बन जाता है। इस विश्लेषण से हाशिये के समाज का प्रश्न केवल बाहरी दमन का प्रश्न न रहकर मैथिल समाज की आंतरिक संरचनात्मक असमानता का प्रश्न बन जाता है।

इस प्रसंग में उनका संकेत केवल इतना नहीं है कि मैथिली क्षेत्र में विभिन्न बोली-रूप विद्यमान हैं। उनका मूल आग्रह यह है कि भाषिक विविधता को हीन-श्रेष्ठ की कसौटी पर नहीं, जीवन-सत्य की कसौटी पर देखा जाए। जो बोली जिस समाज के श्रम, दुःख, व्यवहार, उत्सव और अनुभव को वहन करती है, उसका साहित्यिक महत्त्व स्वतः सिद्ध है। इसी अर्थ में मण्डलजी मैथिली आलोचना के लिए लोकतांत्रिक मानदंड प्रस्तावित करते दिखाई पड़ते हैं। यहाँ परिनिष्ठितता का एकछत्र अधिकार टूटता है और लोकजीवन का भाषिक अनुभव साहित्यिक मान्यता का आधार बनता है।

मण्डलजी की प्रतिरोध-दृष्टि केवल भाषिक विविधता को स्वीकृति देने के आग्रह तक सीमित नहीं है। वे स्पष्ट रूप से पूछते हैं कि मैथिली

साहित्य में जो रचना हो रही है, वह समाज से कितनी जुड़ी है? उनके अनुसार मूल प्रश्न केवल यही नहीं है कि मैथिली में लेखन हो रहा है, बल्कि यह भी है कि वह लेखन समाज से कितना जुड़ा है। वे व्यंग्यात्मक ढंग से पूछते हैं कि अमेरिका की बीस मंजिली इमारत पर बैठकर मिथिला को देखना और साग-पात के लोकजीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करना क्या सचमुच समाज से जुड़े साहित्य का द्योतक है? इस प्रश्न में संपूर्ण साहित्यिक आत्मपरीक्षण निहित है। साहित्य यदि केवल शैली, वाक्पटुता, लाक्षणिकता और कल्पनालोक के बीच सीमित रह जाए, तो हाशिये के समाज का जीवन उससे बाहर छूटता रहेगा।

यही कारण है कि मण्डलजी कहते हैं कि अपनी भाषा, अपना साहित्य और अपनी संस्कृति स्वयं निर्मित करनी होगी। इस वाक्य में स्वाधीन रचनात्मक सक्रियता, सामाजिक आत्मविश्वास और सांस्कृतिक स्वामित्व का संयुक्त आग्रह निहित है। हाशिये के समाज को अपना प्रतिनिधित्व स्वतः नहीं मिलेगा। उसे अपनी भाषा, अपने लेखन, अपने मंच, अपने पाठक-समाज और अपने सांस्कृतिक श्रम के बल पर स्वयं अर्जित करना होगा। मण्डलजी के यहाँ यही आत्मनिर्माण सामाजिक प्रतिरोध का रचनात्मक रूप बन जाता है।

मूल लेख में मण्डलजी सामाजिक न्याय को केवल सैद्धांतिक घोषणा के रूप में नहीं, व्यावहारिक प्रश्न के रूप में सामने लाते हैं। पंचायत आरक्षण का उदाहरण देकर वे दिखाते हैं कि महिलाओं को पचास प्रतिशत आरक्षण दिया गया, पर व्यवहार में शक्ति-संतुलन बहुधा वैसा ही बना रहा। पंचायत स्तर पर महिला, हरिजन और पनिचल्ला समुदायों को प्रतिनिधित्व मिला, पर वास्तविक सामाजिक शक्ति-स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन नहीं हुआ। इस तथ्य को वे बहुत मार्मिक ढंग से सामने लाते हैं। यहाँ मण्डलजी व्यवस्थागत प्रतीक और वास्तविक सामाजिक शक्ति के बीच के अंतर को चिह्नित करते हैं। कानूनी आरक्षण यदि सामाजिक संरचना, शिक्षा, आत्मनिर्णय, आर्थिक स्वतंत्रता और राजनीतिक जागरूकता से नहीं जुड़ेगा, तो वह केवल प्रतिनिधित्व का आवरण बनकर रह जाएगा। इस टिप्पणी से स्पष्ट होता है

कि मण्डलजी सामाजिक परिवर्तन को शुष्क नीतिगत घोषणा के रूप में नहीं, व्यवहार के धरातल पर नापते हैं। उनके लिए प्रतिरोध का वास्तविक अर्थ समाज की भीतरी संरचना में परिवर्तन लाना है, केवल पद देना नहीं।

हाशिये के समाज का विमर्श मण्डलजी के गद्य में स्त्री के प्रश्न से भी जुड़ा है। वे स्त्री के प्रश्न को अलग-थलग सुधारवादी मुद्दे के रूप में नहीं देखते। पंचायत आरक्षण, भ्रूण-हत्या, लड़कियों की घटती संख्या का अनुपात, पढ़ाई-लिखाई की महँगी व्यवस्था, बेटी पर दोहरा आर्थिक भार और सार्वजनिक संस्थाओं की जड़ता को वे एक ही सामाजिक रोग के परस्पर जुड़े रूप मानते हैं। विशेष रूप से उनका आग्रह है कि यदि नारी-जागरण सचमुच चाहिए, तो नारी-शिक्षा अनिवार्य है; क्योंकि समाज के आधे हिस्से को शिक्षा, सम्मान और निर्णय-अधिकार से वंचित रखकर कोई लोकतांत्रिक नवजागरण संभव नहीं। जहाँ स्त्री की शिक्षा, निर्णय का अधिकार, सम्मान और सामाजिक सुरक्षा सुदृढ़ नहीं है, वहाँ समाज आंतरिक रूप से लोकतांत्रिक बन ही नहीं सकता। यही कारण है कि मण्डलजी नारी-जागरण को सामाजिक प्रतिरोध की महत्त्वपूर्ण शर्त मानते हैं। इस स्तर पर उनका सामाजिक चिंतन व्यापक मानवीय स्वर ग्रहण करता है।

प्रश्नोत्तर के अंश इस अध्याय के वैचारिक धरातल को और मजबूत करते हैं। मण्डलजी बार-बार कहते हैं कि साहित्य में कुछ समाज की चर्चा आवश्यकता से अधिक हुई, और समाज का बहुत बड़ा हिस्सा उससे “कटा” रहा। अपने सृजन में उनका लगातार प्रयास रहा कि उस छूटे हुए समाज को पकड़कर लिखा जाए। यह कथन ‘पयस्विनी’ की सामाजिक आत्मा है। हाशिये के समाज का प्रश्न उनके लिए परिधीय विषय नहीं, लेखकीय प्रतिबद्धता का केंद्रबिंदु है। इस कथन से स्पष्ट होता है कि ‘पयस्विनी’ में सामाजिक प्रतिरोध केवल सिद्धांत के रूप में नहीं, रचनात्मक दायित्व के रूप में उपस्थित है। इस तरह लेखक अपने साहित्य के उद्देश्य को स्पष्ट शब्दों में चिह्नित करते हैं।

मण्डलजी का वर्चस्व-विमर्श सांस्कृतिक स्तर पर भी सक्रिय रहता

है। उनके अनुसार समाज के कुछ वर्ग और कुछ परिवार हैं जिन्होंने मिथिला और मैथिली को अपना चारागाह बनाकर चरते रहे, समाज की हवा को दूषित करते रहे। इस कथन का आशय यह है कि भाषा, साहित्य और संस्कृति ईमानदार सामाजिक श्रम का क्षेत्र न रहकर प्रतिष्ठा, कब्जा, वर्चस्व और प्रतीकात्मक उपभोग की वस्तु बन गए। मण्डलजी इस नकली सांस्कृतिक स्वामित्व का विरोध करते हैं। उनके लिए भाषा और संस्कृति प्रेम, निष्ठा, श्रम, व्यवहार और जिम्मेदारी से जुड़े प्रश्न हैं। बंगाली समाज का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि मातृभाषा के प्रति निष्ठा का व्यावहारिक रूप होता है। मैथिल समाज के लिए उनका संकेत स्पष्ट है। भाषा पर गर्व केवल कह देने भर से सिद्ध नहीं होता; उसका वास्तविक प्रमाण व्यवहार में प्रकट होता है। यहाँ प्रतिरोध का आशय अपने सांस्कृतिक जीवन को वास्तविक आचरण, श्रम और जिम्मेदारी के माध्यम से सार्थक बनाना है।

मण्डलजी का सामाजिक प्रतिरोध विध्वंसक रूप नहीं लेता; उसका मूल स्वर रचनात्मक है। इसी कारण वे आग्रह करते हैं: “जो जहाँ है, वहीं खड़ा होकर अपनी शक्ति को जगाए।” यह कथन स्पष्ट करता है कि उनके लिए संघर्ष का अर्थ असंतोष व्यक्त करने तक सीमित नहीं है; अपने स्थान पर सक्रिय होकर समाज के लिए सार्थक काम करना भी है। इस संदर्भ में वे भाई राजनन्दन लाल दास की ‘कर्णामृत’ पत्रिका के संपादन और हैदराबाद में मैथिल रचनाकारों के मंच-निर्माण का उदाहरण देते हैं। पटना-दिल्ली से लेकर गुजरात, मुंबई, हैदराबाद, बैंगलोर, मद्रास और कोलकाता तक बसे मैथिल समाज को वे भाषा, साहित्य और संस्कृति के लिए कुछ-न-कुछ करने की प्रेरणा देते हैं। इस माध्यम से मण्डलजी हाशिये के समाज के संघर्ष को शिकायत या प्रतिवाद तक सीमित नहीं रखते। वे उसे सेवा, संगठन, मंच-निर्माण और भाषिक-सांस्कृतिक जागरण के ठोस मार्ग की ओर मोड़ते हैं।

स्वाधीनता और सामाजिक उत्तरदायित्व के संबंध पर मण्डलजी का विचार इस अध्याय का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। वे स्वतंत्रता को केवल राजनीतिक घटना नहीं मानते, बल्कि लाखों देशभक्तों के बलिदान से प्राप्त उत्तरदायित्व

की विरासत मानते हैं। उनके कथनानुसार 15 अगस्त 1947 को देश स्वतंत्र जरूर हुआ, पर इस स्वतंत्रता को सामान्य लेन-देन की तरह नहीं समझना चाहिए। यदि लाखों देशभक्तों ने अपने प्राण दिए, तो उनके बलिदान को अकारथ न जाने देने का भार वर्तमान पीढ़ी पर है। इस जिम्मेदारी को वे भाषा, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र से भी जोड़ते हैं। उनके अनुसार अपनी भाषा, अपने साहित्य और अपनी संस्कृति को परिमार्जित करते हुए अगली पीढ़ी तक पहुँचाना समाज का आवश्यक दायित्व है।

इस प्रसंग में वे मैथिली भाषा-साहित्य में लोकतंत्रीकरण का प्रश्न उठाते हैं। उनके अनुसार अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया अपेक्षाकृत आगे बढ़ी है, पर मैथिली भाषा-साहित्य में यह प्रक्रिया अभी प्रतीक्षा में है। यहाँ लोकतंत्रीकरण का अर्थ केवल मैथिली में अधिक लोगों का लिखना-पढ़ना नहीं है। इसका गहरा अर्थ यह है कि मैथिली साहित्य के केंद्र में वह समाज भी आए, जो अब तक प्रायः हाशिये पर रहा है। किसान, मजदूर, स्त्री, वंचित जाति-वर्ग, क्षेत्रीय बोली और गाँव का लोक-अनुभव जब साहित्य के भीतर सम्मानित स्थान पाते हैं, तभी भाषा-साहित्य सचमुच जनपक्षधर और लोकतांत्रिक बनता है। जो बोली उपहास, हीनताबोध या उपेक्षा का विषय बना दी गई थी, उसे भी अभिव्यक्ति की मान्यता मिले। जिन लोकसमूहों को पिछलग्गू, गौण या असाहित्यिक समझकर छोड़ दिया गया, उनके अनुभव, संघर्ष और सामाजिक इतिहास को साहित्यिक रूप में दर्ज किया जाए। इसी अर्थ में मण्डलजी का संपूर्ण सामाजिक प्रतिपक्ष लोकतंत्रीकरण की माँग पर केंद्रित है।

मण्डलजी के जीवन-वृत्त में उनके सामाजिक योगदान के जो संकेत मिलते हैं, वे इस अध्याय के तर्क को पुष्ट करते हैं। वे 35 वर्ष से अधिक समय तक सामाजिक संघर्ष, अंधविश्वास के विरोध और सामंतवाद के प्रतिरोध से जुड़े रहे, और इस क्रम में अनेक संगोष्ठियों, मुकदमों और जेल-यात्राओं से भी गुजरे। अर्थात् सामाजिक प्रतिरोध उनके लिए केवल किताबी विषय नहीं रहा, जीवन की एक व्यावहारिक क्रिया रहा है। इसलिए

'वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष' लेख पढ़ते समय अनुभव होता है कि प्रस्तुत गद्य बाहर से की गई टिप्पणी नहीं, भीतर से जिए गए सत्य की अभिव्यक्ति है। लेखक समाज के शक्ति-संबंध, छल, असमानता, दिखावटी सुधार, भाषिक उपेक्षा और सांस्कृतिक कब्जे के विविध रूपों को प्रत्यक्ष जीवनानुभव के आधार पर चिह्नित करते हैं। इस तरह के अनुभव की समर्थता उनके प्रतिरोधी स्वर को गंभीरता और विश्वसनीयता प्रदान करती है।

समग्र रूप से देखा जाए तो मण्डलजी का सामाजिक प्रतिरोध तीन धरातलों पर एक साथ सक्रिय दिखाई देता है। पहला धरातल विचार का है, जहाँ वे इतिहास, भाषा, संस्कृति और सत्ता-संरचना का आलोचनात्मक परीक्षण करते हैं। दूसरा धरातल रचनात्मक है, जहाँ छूटे हुए समाज के अनुभव को साहित्य के केंद्र में लाने की कोशिश होती है। तीसरा धरातल सामाजिक कर्म का है, जहाँ संगठन, जागरण, नारी-शिक्षा, भाषिक सक्रियता, सांस्कृतिक निष्ठा और जनपक्षधर हस्तक्षेप का आग्रह सामने आता है। फलस्वरूप मण्डलजी का प्रतिरोध मात्र सिद्धांत नहीं रह जाता, और न केवल भावुक असहमति बनता है; वह विचार, लेखन और सामाजिक व्यवहार के त्रिसंयुक्त रूप में प्रकट होता है।

इस समस्त विवेचन से समझ में आता है कि 'पयस्विनी' में हाशिये के समाज का विमर्श एकांगी नहीं, बहुआयामी और गहरे सामाजिक चिंतन के रूप में उपस्थित है। यहाँ भाषा-साहित्य का प्रश्न संस्कृति, राजनीति, शिक्षा, स्त्री-प्रश्न और प्रतिनिधित्व से जुड़ता है। मण्डलजी वर्चस्व को प्रत्यक्ष दमन तक सीमित नहीं देखते; वे उसे ऐसी सांस्कृतिक-सामाजिक संरचना के रूप में चिह्नित करते हैं, जो बहुसंख्य लोकजीवन को केंद्र से दूर कर देती है। इसी प्रकार हाशिया उनके लिए आर्थिक वंचना का नाम मात्र नहीं है; वह ऐसी सामाजिक स्थिति है जहाँ दबा, छूटा, वंचित और अल्पप्रतिनिधित समाज अपनी आवाज, अनुभव और अस्मिता के साथ निरंतर संघर्षरत रहता है। इसी कारण उनके यहाँ सामाजिक प्रतिरोध का अर्थ विरोध दर्ज कराने तक सीमित नहीं है। वह विवेक-जागरण, आत्मनिर्माण, जनपक्षीय

लेखन, संगठन, भाषिक अधिकार, सांस्कृतिक आत्मगौरव और लोकतांत्रिक पुनर्समीक्षा की दिशा में सक्रिय होने के आग्रह से जुड़ा है। इस दृष्टि से 'पयस्विनी' का यह सामाजिक अध्याय आधुनिक मैथिली गद्य में प्रतिरोध, प्रतिनिधित्व और जनसरोकार के प्रश्न को गंभीरता से उठाने वाले सशक्त अभिलेख के रूप में उद्घाटित होता है। ❑

पयस्विनी में साहित्यिक-सांस्कृतिक सक्रियता और सार्वजनिक लेखन

✳

'पयस्विनी' में मण्डलजी के वैचारिक लेखन के साथ-साथ उनकी साहित्यिक-सांस्कृतिक सक्रियता और सार्वजनिक लेखन का रूप भी स्पष्ट होता है। अनुक्रम में 'अंतर्राष्ट्रीय मैथिली सम्मेलन 2011, गुवाहाटी', 'सगर राति दीप जरय' की 100वीं कथागोष्ठी के संबंध में, 'वेब प्रोग्राम, 29 जुलाई 2020' और 'भाई राजनन्दन लाल दासजी की जीवन-यात्रा' की उपस्थिति विशेष अर्थ रखती है। विभिन्न प्रश्नों के उत्तर और परिसंवाद के खंड इस सार्वजनिक स्वर को और बल देते हैं। इसी सामग्री के कारण 'पयस्विनी' लेखक के निजी चिंतन तक सीमित नहीं रहती, बल्कि सार्वजनिक साहित्यिक जीवन की सहभागी पुस्तक का रूप ग्रहण करती है। यहाँ लेखक के विचार केवल निबंध के रूप में संगृहीत नहीं हैं; साहित्यिक समाज के बीच उनकी सक्रिय उपस्थिति, उत्तरदायित्व और सहभागिता भी अभिव्यक्त हुई है। ध्यान देने की बात यह है कि उनका सार्वजनिक लेखन किसी बाहरी गतिविधि का परिशिष्ट नहीं है। यह उनके वैचारिक गद्य का स्वाभाविक विस्तार है। जिस लेखक के लिए साहित्य जन-संवाद का माध्यम है, उसके लिए सम्मेलन, गोष्ठी, प्रश्नोत्तर, वेब-मंच और व्यक्तित्व-लेखन, सभी साहित्यिक कर्म के आवश्यक अंश बन जाते हैं। इसी कारण 'पयस्विनी' में सार्वजनिक लेखन की उपस्थिति आकस्मिक नहीं, लेखक के समग्र साहित्य-दर्शन का व्यावहारिक रूप है।

मण्डलजी के समग्र साहित्यिक व्यक्तित्व को देखा जाए तो स्पष्ट होता है कि उनका लेखन एकांतनिष्ठ साधना और सार्वजनिक उपस्थिति,

दोनों को साथ लेकर चलता है। मण्डलजी के जीवन-वृत्त में 'सगर राति दीप जरय' के त्रैमासिक साहित्यिक आयोजन में सन् 2008 से अब तक सक्रिय सहभागिता का उल्लेख है। नए लेखकों को प्रोत्साहन, संपादकीय सहयोग, मंच-संबंध, सामाजिक संघर्ष और जन-संवाद के प्रति प्रतिबद्धता भी स्पष्ट रूप से दर्ज है। इस पृष्ठभूमि में 'पयस्विनी' के सार्वजनिक लेखन का अर्थ और खुलता है। यह कृति लेखक के उस रूप को सामने लाती है, जहाँ साहित्य रचना के साथ-साथ सहभागिता बनता है; पाठ के साथ-साथ आयोजन बनता है; विचार के साथ-साथ लोक-संबंध बनता है।

'अंतर्राष्ट्रीय मैथिली सम्मेलन 2011, गुवाहाटी' जैसे शीर्षक की उपस्थिति स्पष्ट करती है कि मण्डलजी की साहित्यिक दृष्टि क्षेत्रीय सीमा में आबद्ध नहीं है। मैथिली समाज भौगोलिक रूप से विस्तृत है। उसकी सांस्कृतिक उपस्थिति मिथिला तक सीमित नहीं रह सकती। सम्मेलन-लेखन इसी विस्तृत सांस्कृतिक उपस्थिति को शब्द देता है। सार्वजनिक लेखन का यह रूप विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि सम्मेलन मात्र औपचारिक आयोजन नहीं होता। वह सामूहिक आत्मचेतना, भाषिक अस्मिता, साहित्यिक संवाद और सांस्कृतिक भविष्य के प्रश्न को एक मंच पर लाता है। ऐसे सम्मेलन-लेखन का महत्त्व इस बात में है कि वह आयोजन की सूचना तो देता ही है, साथ ही यह भी संकेत देता है कि मैथिली समाज अपने को कैसे देखता है और अपने भविष्य की कल्पना कैसे करता है। जब ऐसा आयोजन पुस्तक में स्थान पाता है, तब साहित्यिक इतिहास का एक चलायमान रूप सुरक्षित होता है। 'पयस्विनी' इस अर्थ में मैथिली के जीवित सांस्कृतिक प्रवाह का अभिलेख बन जाती है। इसलिए सम्मेलन-लेखन यहाँ केवल विवरणात्मक गद्य नहीं रह जाता, मैथिल समाज की सामूहिक आत्मचेतना की अभिव्यक्ति बन उठता है।

'सगर राति दीप जरय' की 100वीं कथागोष्ठी के संबंध में लिखा गया पाठ 'पयस्विनी' का अत्यंत महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक-साहित्यिक दस्तावेज है। इस कथागोष्ठी का पहला आयोजन जनवरी 1990 में हुआ था और समय के साथ यह आयोजन एक दीर्घ साहित्यिक परंपरा के रूप में विकसित

हुआ। पहली गोष्ठी में विभिन्न कथाकारों के कथापाठ का उल्लेख मिलता है। इस सूचना मात्र से दो महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। पहला, मैथिली कथा-परंपरा मंचीय वाचन, सामूहिक श्रवण और आपसी आलोचना के अभ्यास से जुड़ी रही है। दूसरा, ऐसे आयोजन लेखक-केंद्रित नहीं, समुदाय-केंद्रित साहित्यिक संस्कृति गढ़ते हैं। मण्डलजी जब ऐसी गोष्ठी के संबंध में लिखते हैं, तब वे केवल स्मरण-लेख नहीं लिख रहे होते। वे एक साहित्यिक सामूहिकता, संवादशीलता और निरंतरता को दर्ज कर रहे होते हैं।

'सगर राति दीप जरय' की चर्चा 'पयस्विनी' में सांस्कृतिक सक्रियता और सार्वजनिक लेखन के बीच गहरे संबंध को रेखांकित करती है। इस कथागोष्ठी का महत्त्व केवल इतना नहीं है कि वहाँ कथापाठ हुआ। असल महत्त्व इस बात में है कि ऐसा आयोजन भाषा और साहित्य को जीवित सामाजिक व्यवहार में बदल देता है। लेखक अकेला नहीं रहता। श्रोता निष्क्रिय नहीं रहता। पाठ सामूहिक अनुभव बनता है। आलोचना और प्रशंसा तत्काल जन्म लेती है। इस प्रकार कथा-लेखन केवल लिखित पाठ भर नहीं रह जाता, सामूहिक बौद्धिक विनिमय की प्रक्रिया बन जाता है। युवा रचनाकार प्रेरित होते हैं। वरिष्ठ लेखक की उपस्थिति परंपरा और परिवर्तन के बीच सेतु बनाती है। इस दृष्टि से 'पयस्विनी' में इस आयोजन पर लिखा गया लेख साहित्य की सार्वजनिक संस्कृति का प्रमाण-पत्र है।

'वेब प्रोग्राम, 29 जुलाई 2020' शीर्षक 'पयस्विनी' के सार्वजनिक लेखन को एक नया आयाम देता है। यहाँ साहित्यिक सक्रियता पारंपरिक मंच से डिजिटल मंच तक प्रवेश करती है। डिजिटल मंच मिथिला से बाहर बसे मैथिल समाज को भाषा-संवाद का नया अवसर देता है। इससे साहित्य भौगोलिक दूरी से मुक्त होकर अधिक व्यापक लोक-संपर्क का माध्यम बनता है, और मैथिली भाषिक समुदाय देश-विदेश में फैले विस्तार के भीतर एक-दूसरे से संवाद कायम कर सकता है। उद्धृत अंश से ज्ञात होता है कि पुराने संबंधों के माध्यम से कार्यक्रम शुरू हुआ और लेखक उसमें सहभागी बने। इस तथ्य का सांस्कृतिक महत्त्व विशेष है। यह बताता है कि मण्डलजी साहित्यिक समाज को केवल स्थूल भौगोलिक उपस्थिति तक सीमित नहीं

मानते। समय बदलता है तो मंच बदलता है। संवाद का माध्यम बदलता है। फिर भी भाषा, साहित्य और सामाजिक जुड़ाव की आवश्यकता बनी रहती है। 'पयस्विनी' इसी संक्रमण-क्षण को भीतरी आत्मीयता के साथ अभिलेखित करती है।

वेब-आधारित कार्यक्रम पर लिखे गए लेख से स्पष्ट होता है कि मण्डलजी का सार्वजनिक लेखन समय-सापेक्ष और जागरूक है। वे केवल बीते हुए गौरव के स्मरण में सीमित नहीं रहते, नए माध्यम और भाषिक उपस्थिति की नई संभावनाओं पर भी गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं। डिजिटल मंच का अर्थ यहाँ आधुनिकता मात्र नहीं, प्रसार, पहुँच और सतत संवाद का अवसर भी है। अर्थात् मंच बदल जाने से साहित्य का सार्वजनिक चरित्र समाप्त नहीं होता, बल्कि नए रूप में विस्तृत होता है। मैथिली भाषिक समुदाय देश-विदेश तक फैला हुआ है। ऐसी स्थिति में वेब-प्रोग्राम भाषा-संस्कृति के समागम का नया माध्यम बनता है। 'पयस्विनी' में इस लेख को शामिल करना इस बात का सूचक है कि जगदीश प्रसाद मण्डलजी साहित्यिक सक्रियता को जीवित समकालीन प्रक्रिया मानते हैं।

'भाई राजनन्दन लाल दासजी की जीवन-यात्रा' शीर्षक लेख 'पयस्विनी' के सार्वजनिक लेखन को व्यक्तित्व-केंद्रित सांस्कृतिक दिशा देता है। उपलब्ध सामग्री से स्पष्ट है कि राजनन्दन लाल दासजी का जीवन मातृभाषानुराग, मिथिला-सांस्कृतिक सक्रियता और दीर्घ संपादकीय साधना से जुड़ा रहा। सन् 1958 में मिथिला सांस्कृतिक सम्मेलन में उनकी सक्रियता, बाहरी जीवनानुभव के बीच मिथिला-मैथिली के प्रति अनुराग और 'कर्णामृत' पत्रिका के दीर्घ संपादन का प्रसंग इस व्यक्तित्व को साहित्यिक-सांस्कृतिक कर्मयोगी के रूप में सामने लाता है। मण्डलजी ने ऐसे व्यक्तित्व की जीवन-यात्रा लिखकर केवल श्रद्धांजलि नहीं दी है, मैथिल समाज के सांस्कृतिक संरक्षकों की स्मृति को सुरक्षित किया है।

इस प्रकार के व्यक्तित्व-लेखन का महत्त्व बहुत बड़ा होता है। साहित्यिक इतिहास केवल पुस्तक-सूची से नहीं बनता; वह उन लोगों के जीवन के आधार पर बनता है, जो मंच बनाते हैं, पत्रिका चलाते हैं, लोगों

को जोड़ते हैं, भाषिक अनुराग का वातावरण बनाते हैं और क्षेत्रीय संस्कृति की निरंतरता को अक्षुण्ण रखते हैं। राजनन्दन लाल दास संबंधी लेख इस अर्थ में सार्वजनिक लेखन का महत्त्वपूर्ण रूप है। 'पयस्विनी' यहाँ व्यक्तित्व-स्मरण को साहित्यिक-सांस्कृतिक इतिहास का अंग बना देती है। इस संदर्भ में सार्वजनिक लेखन निजी संस्मरण नहीं रह जाता, सांस्कृतिक उत्तरदायित्व बन जाता है। ऐसे लेखों से यह समझ में आता है कि मैथिली साहित्य का इतिहास केवल महान कृतियों का इतिहास नहीं है, बल्कि उन लोगों का इतिहास भी है जो निस्वार्थ भाव से भाषा, पत्रिका, मंच और सांस्कृतिक वातावरण को जीवित रखते रहे हैं। मण्डलजी के ऐसे लेखन के माध्यम से साहित्यिक समाज अपने अदृश्य कर्मयोगियों से परिचित होता है और सांस्कृतिक कृतज्ञता का बोध भी विकसित करता है।

'पयस्विनी' के सार्वजनिक लेखन का सबसे विशिष्ट पक्ष प्रश्नोत्तर और परिसंवाद के खंड हैं। 'विदेह ई-पत्रिका' के संपादक गजेन्द्र ठाकुरजी के प्रश्नों के उत्तर, मुन्नाजी के प्रश्नों के उत्तर, मुकेश दत्तजी के प्रश्नों के उत्तर और दो परिसंवाद इस कृति की संरचना को बहुध्वन्यात्मक, जीवित और संवादधर्मी बनाते हैं। यहाँ मण्डलजी एकतरफा व्याख्याता के रूप में सामने नहीं आते, संवादकर्मी के रूप में उपस्थित होते हैं। प्रश्न के सामने अपने विचार की जवाबदेही स्वीकार करते हुए वे साहित्य-दर्शन, सामाजिक बोध, भाषा-विचार, रचनात्मक प्राथमिकता और सांस्कृतिक सरोकार को प्रत्यक्ष रूप में उद्घाटित करते हैं। यही कारण है कि प्रश्नोत्तर के अंश 'पयस्विनी' को स्थिर निबंध-संकलन से आगे ले जाते हैं और पुस्तक को जीवित सार्वजनिक विचार-विनिमय का रूप प्रदान करते हैं। यहाँ लेखक अपने विचार को निजी लेखन की सुरक्षित कोठरी में बंद रखने वाला रचनाकार नहीं रह जाता; वह पाठक, संपादक, शोधार्थी और व्यापक साहित्यिक समाज के सामने उपलब्ध, उत्तरदायी और संवादशील व्यक्तित्व के रूप में सामने आता है।

गजेन्द्र ठाकुरजी के प्रश्न के उत्तर में मण्डलजी साहित्य के उद्देश्य पर विचार करते हुए कहते हैं कि साहित्य समाज का ऐसा दर्पण है, जिसमें भूत,

वर्तमान और भविष्य का दर्शन होता है। यह कथन अपने-आप में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यहाँ साहित्य को कलात्मक आस्वाद की वस्तु के साथ सामाजिक बोध के सक्रिय माध्यम के रूप में परिभाषित किया गया है। साथ ही वे यह व्यथा प्रकट करते हैं कि मैथिली साहित्य 'एकतरफा' हो गया है, कुछ समाज की चर्चा आवश्यकता से अधिक हुई है और समाज का अधिकांश हिस्सा कटकर किनारे हो गया है। इस कथन का सार्वजनिक महत्त्व अत्यंत गहरा है। यह मात्र आत्मालोचन नहीं, मैथिली साहित्यिक जगत के दिशाबोध का वक्तव्य है। यहाँ मण्डलजी साहित्य के भीतर उपस्थित असंतुलन, प्रतिनिधित्व के अभाव और सामाजिक विषमता के प्रश्न को निर्भीकतापूर्वक सामने लाते हैं। प्रश्नोत्तर के माध्यम से ऐसा कथन उपलब्ध होने पर पाठक को लेखक की भीतरी चिंता, साहित्यिक ईमानदारी और जनपक्षधर दृष्टि प्रत्यक्ष रूप से समझने का अवसर मिलता है। इस अर्थ में 'पयस्विनी' के प्रश्नोत्तर साहित्यिक लोक-चेतना के निर्माण के सक्रिय औजार बन जाते हैं।

मुकेश दत्तजी के प्रश्न के उत्तर में मण्डलजी आर्थिक वृत्ति और बौद्धिक वृत्ति का अंतर स्पष्ट करते हैं। शरीर के भरण-पोषण और मन के भरण-पोषण, दोनों को अलग-अलग, पर समान रूप से महत्त्वपूर्ण मानते हुए वे जीवन और साहित्य के बीच के गहरे संबंध पर प्रकाश डालते हैं। नियमित अर्थोपार्जन के साथ नियमित सृजन का समय निकालने की बात उनके साहित्यिक अनुशासन, जीवन-संघर्ष और लेखन-प्रतिबद्धता का ठोस संकेत देती है। इस उत्तर से स्पष्ट होता है कि मण्डलजी की साहित्यिक सक्रियता आकस्मिक, अवकाशजन्य या अवसर-सापेक्ष क्रिया नहीं है; वह एक योजनाबद्ध, अनुशासित और जीवन के समानांतर चलने वाली साधना है। इसलिए उनका सार्वजनिक लेखन केवल मंचीय उपस्थिति भर नहीं रह जाता, आत्मनियोजित बौद्धिक कर्म का विस्तार बन जाता है। अर्थात् मंच पर उपस्थित लेखक और एकांत में लिखने वाला साधक, यहाँ दो अलग व्यक्ति नहीं रहते; दोनों एक ही अनुशासित जीवन-दृष्टि के परस्पर संबद्ध रूप बनकर प्रकट होते हैं। लेखक अपने श्रम, समय, जीवन-स्थिति के

यथार्थ और सृजनात्मक दायित्व के बीच जो संतुलन स्थापित करते हैं, वह उनके सार्वजनिक व्यक्तित्व को अतिरिक्त विश्वसनीयता, गंभीरता और नैतिक दृढ़ता प्रदान करता है।

समग्र रूप से देखा जाए तो प्रश्नोत्तर और परिसंवाद के खंड 'पयस्विनी' की सार्वजनिकता को एक नया और गंभीर स्तर प्रदान करते हैं। सम्मेलन, गोष्ठी और वेब-प्रोग्राम लेखक की बाहरी सहभागिता दिखाते हैं, और उसी तरह प्रश्नोत्तर लेखक की वैचारिक उपलब्धता, आत्मव्याख्यात्मक स्पष्टता और सार्वजनिक जवाबदेही को सामने लाते हैं। यहाँ मण्डलजी प्रश्न के लिए खुले हैं, असहमति के लिए खुले हैं, और व्याख्या के लिए भी खुले हैं। इस प्रकार का खुलापन सार्वजनिक लेखन की अत्यंत आवश्यक शर्त है। जब लेखक प्रश्नों के सामने खड़े होकर अपनी साहित्य-दृष्टि, सामाजिक चिंता, भाषिक आग्रह और रचनात्मक प्रतिबद्धता को स्पष्ट करता है, तब साहित्य समाज के साथ जीवित संबंध स्थापित करता है। 'पयस्विनी' की इसी संरचनात्मक विशेषता के कारण यह पुस्तक मात्र विचारों का संकलन न रहकर सामाजिक विचार-चेतना, लोक-संवाद, साहित्यिक उत्तरदायित्व और जनपक्षधर चेतना का महत्त्वपूर्ण पाठ बन जाती है।

मण्डलजी के सार्वजनिक लेखन का सांस्कृतिक अर्थ इस बात में भी निहित है कि वे भाषा, साहित्य और समाज को एक-दूसरे से अलग विभागों के रूप में नहीं देखते। उनके जीवन-वृत्त में साहित्य-दर्शन के वाक्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। "लेखन प्रदर्शन नहीं, प्रतिबद्धता की अनुशासित साधना है।" "मैं उन लोगों के लिए लिखता हूँ जो जी रहे हैं, पर बोल नहीं पा रहे।" "मैथिली साहित्य जन-संवाद का सजग दस्तावेज बने।" इन कथनों के आलोक में 'पयस्विनी' के सार्वजनिक लेखन को देखा जाए तो समझ में आता है कि सम्मेलन, गोष्ठी, वेब-प्रोग्राम, प्रश्नोत्तर और परिसंवाद, सभी इसी साहित्य-दर्शन के व्यावहारिक रूप हैं। यहाँ लेखन लोगों को जोड़ने, मूक को वाणी देने और जन-संवाद रचने का माध्यम बनता है।

मण्डलजी की संगठनात्मक संबद्धता और सामाजिक सक्रियता से संबंधित सूचनाएँ इस अध्याय के तर्क को बल देती हैं। 'सगर राति दीप

जरय' के सहभागी, नए लेखकों के प्रोत्साहक, पल्लवी प्रकाशन से जुड़े सक्रिय व्यक्तित्व और समाजसेवा-आधारित लेखन के साधक के रूप में उनका परिचय उपलब्ध है। अनेक सामाजिक प्रश्नों पर उनकी सक्रियता भी देखी जाती है। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखने से 'पयस्विनी' के सार्वजनिक लेखन का महत्त्व और बढ़ जाता है। यह कृति ऐसे रचनाकार की पुस्तक है, जो मंच को मिट्टी से, गोष्ठी को गाँव से और लेखन को समाज-सेवा से जोड़कर चलता है।

सार्वजनिक लेखन का एक महत्त्वपूर्ण गुण अभिलेखीयता होता है। ऐसे लेख भविष्य के शोधार्थियों, आलोचकों और साहित्य-इतिहासकारों के लिए स्रोत-सामग्री बनते हैं, क्योंकि वे आयोजन, व्यक्ति, विचार, मंच, समय के वातावरण और साहित्यिक सक्रियता के जीवित साक्ष्य सुरक्षित रखते हैं। मौखिक या क्षणिक रह जाने वाली घटना पुस्तक में आकर दीर्घकालीन सांस्कृतिक स्मृति बन जाती है। 'अंतर्राष्ट्रीय मैथिली सम्मेलन', '100वीं कथागोष्ठी', 'वेब प्रोग्राम', 'जीवन-यात्रा', 'प्रश्नों के उत्तर' और 'परिसंवाद' शीर्षक रचनाओं को मैथिल समाज के समकालीन साहित्यिक इतिहास के प्राथमिक दस्तावेज के रूप में देखा जा सकता है। यदि ऐसी सामग्री पुस्तक में संगृहीत नहीं होती, तो बहुत-सी बातें मौखिक स्मृति तक सीमित रह जातीं। 'पयस्विनी' इस अभाव की पूर्ति करती है। यह पुस्तक पाठक को बताती है कि मैथिली का सांस्कृतिक जीवन केवल रचना-ग्रंथों के भीतर नहीं, जीवित मंच, गोष्ठी, पत्रिका, प्रश्नोत्तर, डिजिटल प्रसार और व्यक्तित्वों की सक्रिय उपस्थिति में भी घटित होता है। अर्थात् 'पयस्विनी' यहाँ साहित्य का पाठ मात्र नहीं, साहित्य के परिवेश, प्रक्रिया, स्मृति और सामाजिक संचार का इतिहास भी सुरक्षित करती है। ऐसी अभिलेखीय चेतना के बिना किसी भी भाषा के सार्वजनिक साहित्यिक जीवन का सम्यक् पुनर्निर्माण संभव नहीं।

समग्र रूप से देखा जाए तो 'पयस्विनी' में सार्वजनिक लेखन तीन स्तरों पर सक्रिय हुआ है। पहला, यह साहित्यिक समुदाय को एक-दूसरे से जोड़ने का माध्यम है। दूसरा, यह सांस्कृतिक स्मृतियों को सुरक्षित रखने का

अभिलेखीय कार्य करता है। तीसरा, यह लेखक के वैचारिक उत्तरदायित्व को सार्वजनिक रूप से व्यक्त करता है। फलस्वरूप सम्मेलन, गोष्ठी, वेब-मंच, व्यक्तित्व-लेखन और प्रश्नोत्तर, सभी मिलकर 'पयस्विनी' को मैथिली साहित्य के सार्वजनिक जीवन के एक सजीव और सार्थक परिप्रेक्ष्य के रूप में सामने लाते हैं।

इस अध्याय के समग्र विवेचन से यह समझ में आता है कि 'पयस्विनी' में साहित्यिक-सांस्कृतिक सक्रियता और सार्वजनिक लेखन एक महत्त्वपूर्ण पूरक आयाम के रूप में उपस्थित है। सम्मेलन-लेखन मैथिली के व्यापक सांस्कृतिक भूगोल को सामने लाता है। कथागोष्ठी का लेख सामूहिक साहित्यिक परंपरा का दस्तावेज बनता है। वेब-प्रोग्राम डिजिटल युग में साहित्यिक सार्वजनिकता के नए रूप का संकेत करता है। राजनन्दन लाल दासजी की जीवन-यात्रा भाषिक-सांस्कृतिक समर्पण की स्मृति सुरक्षित करती है। प्रश्नोत्तर और परिसंवाद लेखक के विचारों के सार्वजनिक उत्तरदायित्व को प्रकट करते हैं। इस समस्त सामग्री के कारण 'पयस्विनी' ऐसी पुस्तक बन गई है, जो जगदीश प्रसाद मण्डलजी के वैचारिक गद्य के साथ-साथ उनके साहित्यिक कर्म, सांस्कृतिक सहभागिता और सार्वजनिक वैचारिक सक्रियता को भी सम्यक् रूप से उद्घाटित करती है। इस अर्थ में यह कृति मैथिली साहित्य के सार्वजनिक जीवन के अध्ययन के लिए अनिवार्य महत्त्व रखती है। ❑

प्रश्नोत्तर और परिसंवाद में उद्घाटित मण्डलजी का व्यक्तित्व

✳

'पयस्विनी' के भीतर प्रश्नोत्तर और परिसंवाद के खंड विशेष महत्त्व रखते हैं। इन अंशों के कारण यह पुस्तक निबंध-संग्रह भर नहीं रहती, बल्कि जगदीश प्रसाद मण्डलजी की प्रत्यक्ष वाणी, आत्मदृष्टि, जीवनानुभव, साहित्य-दर्शन, सामाजिक समझ और मानवीय स्वभाव से साक्षात्कार कराने वाली पुस्तक बन जाती है। 'गजेन्द्र ठाकुरजी के प्रश्नों के उत्तर', 'मुन्नाजी के प्रश्नों के उत्तर', 'मुकेश दत्तजी के प्रश्नों के उत्तर', 'परिसंवाद: 01' और 'परिसंवाद: 02' यह दिखाते हैं कि मण्डलजी लेखन को एकतरफा कथन नहीं, संवाद की प्रक्रिया मानते हैं। यहाँ पाठक, संपादक, संवादकर्ता और लेखक के बीच प्रत्यक्ष संबंध बनता है। इसी कारण इन खंडों में उद्घाटित उनका व्यक्तित्व विश्वसनीय, आत्मीय और बहुआयामी बन उठता है। आलोचक की टिप्पणी या बाहरी मूल्यांकन की अपेक्षा यहाँ रचनाकार स्वयं अपने स्वर में बोलते हैं। इसलिए ये अंश उनके भीतरी व्यक्तित्व के प्रत्यक्ष प्रवेश-द्वार बन जाते हैं।

सबसे पहले इन प्रश्नोत्तर-परिसंवाद खंडों से मण्डलजी की आत्मीयता और विनम्रता उद्घाटित होती है। गजेन्द्र ठाकुरजी के प्रश्न के आरंभ में ही मण्डलजी "हेराएल-भोतियाएल रचनाकारक खोज-खबैर लेबा लेल विदेह परिवारकेँ धन्यवाद" कहकर अपनी बात शुरू करते हैं, अर्थात् "भूले-भटके रचनाकार की खोज-खबर लेने के लिए विदेह परिवार को धन्यवाद।" यह वाक्य सामान्य औपचारिकता नहीं है। इसमें दूसरे के श्रम

के प्रति सम्मान, खोज के प्रति कृतज्ञता और साहित्यिक सहकार के प्रति आदर निहित है। सौम्या झा के साथ परिसंवाद में भी "अपनेक जिज्ञासा लेल धन्यवाद" यानी "आपकी जिज्ञासा के लिए धन्यवाद" कहकर मण्डलजी बातचीत की शुरुआत करते हैं। इस प्रकार का संबोधन अपने-आप स्पष्ट करता है कि उनके लिए संवाद शक्ति-प्रदर्शन का मंच नहीं, परस्पर आदर का क्षेत्र है। उनके व्यक्तित्व का यह आत्मीय पक्ष बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी से समझ में आता है कि वे सार्वजनिक जीवन में सम्मान ग्रहण करने के साथ-साथ संवादकर्ता और सहयात्री के योगदान को भी स्वीकार करते हैं।

इन खंडों में मण्डलजी का आत्मपरिचय देने का साहस और स्पष्टता भी उल्लेखनीय है। मुकेश दत्तजी के प्रश्न पर अपने प्रारंभिक जीवन की चर्चा करते हुए वे बेरमा गाँव, मध्यवर्गीय जाति, मध्यवर्गीय परिवार, जमीन, गुजर-बसर, जेठ-रैयती, भूमिहीनता और सामाजिक विभाजन पर बिना झिझक बात करते हैं। वे परिवार की सामाजिक-आर्थिक अवस्था को धुँधलेपन में नहीं रखते। इस प्रकार की स्पष्टता लेखक के आत्मविश्वास का चिह्न है। यहाँ आत्मपरिचय आत्ममुग्ध शैली में नहीं, यथार्थवादी शैली में आता है। वे अपनी स्थिति का सामाजिक धरातल समझते हैं और उसी धरातल से अपने व्यक्तित्व के निर्माण को समझाने का प्रयास भी करते हैं। इसी कारण प्रश्नोत्तर-खंड जगदीश प्रसाद मण्डलजी के जीवन-सत्य को सजावटविहीन रूप में सामने लाते हैं।

सौम्या झा के साथ परिसंवाद का अंश मण्डलजी के गाँव-केंद्रित जीवनबोध को विशेष रूप से उद्घाटित करता है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि अपना गाँव ही उनका जन्मस्थान है, और शिक्षा-दीक्षा की चर्चा भी गाँव के स्कूल से शुरू करते हैं। सन् 1934 के भूकंप, स्कूल के स्थान-परिवर्तन, लोअर प्राइमरी से उच्चतर शिक्षा तक की पूरी यात्रा का वर्णन करते हुए वे अपने जीवन-गठन को सामाजिक स्मृति से जोड़ते हैं। इस प्रकार के आत्मकथन से उनके व्यक्तित्व में मिट्टी से संबद्धता, स्मृतिशीलता और स्थानीय परिवेश के प्रति गहरा लगाव स्पष्ट होता है। वे महानगर की दूरी से

गाँव की चर्चा नहीं करते। गाँव उनके व्यक्तित्व का मूल स्रोत है।

प्रश्नोत्तरों में मण्डलजी मैथिली साहित्य के प्रतिनिधित्वगत असंतुलन पर खुलकर विचार करते हैं। उनकी चिंता यह है कि साहित्य में कुछ सामाजिक वर्गों को पर्याप्त स्थान मिला, जबकि समाज का बहुत बड़ा हिस्सा रचनात्मक अभिव्यक्ति से बाहर रह गया। इस स्वीकार से उनके व्यक्तित्व की आत्मालोचनशीलता और नैतिक ईमानदारी सामने आती है। वे आलोचना को नकारात्मक असंतोष नहीं, बल्कि साहित्य को अधिक समावेशी और न्यायपूर्ण बनाने की आवश्यक प्रक्रिया मानते हैं।

इसी उत्तर के क्रम में मण्डलजी साफ-साफ कहते हैं कि समाज का दबा-कुचला, वंचित हिस्सा ही उनका मुख्य आधार है, और वे उसी के लिए लिखते हैं। यह कथन मण्डलजी के व्यक्तित्व का केंद्रीय सूत्र है। यहाँ लेखक अपने पाठक-वर्ग, अपनी रचनात्मक पक्षधरता और अपनी नैतिक प्रतिबद्धता, तीनों को एक साथ रेखांकित करते हैं। इस तरह की आत्मघोषणा बहुत कम लेखक करते हैं। उनकी विशिष्टता इसमें है कि वे अपनी रचना-दृष्टि के वास्तविक सामाजिक पक्ष को छिपाते नहीं। इसलिए प्रश्नोत्तर के अंशों से उनका व्यक्तित्व समाज के छूटे हुए लोगों के लेखक के रूप में सामने आता है।

मण्डलजी के व्यक्तित्व का एक विशेष पक्ष निष्पक्ष अवलोकन और विवेकशील निर्णय है। एक प्रश्न के उत्तर में वे कहते हैं कि किसी समस्या या घटना के प्रति उनका हमेशा प्रयास रहता है कि निष्पक्ष होकर देखें और निराकरण भी करें। इस वाक्य से बहुत कुछ स्पष्ट होता है। पहला, उनके यहाँ साहित्य दलीय शोर नहीं है। दूसरा, वे घटना को भावावेग के आधार पर नहीं, निरीक्षण के आधार पर देखना चाहते हैं। तीसरा, उनके लिए देखना और निराकरण करना एक-दूसरे से अलग नहीं है। यह प्रवृत्ति उनके निबंधों में भी दिखाई देती है, पर प्रश्नोत्तर में इसका प्रत्यक्ष वचन के रूप में सामने आना अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि उनका व्यक्तित्व तथ्य-सजग, विचारशील और समाधानमुखी है।

मुन्नाजी के प्रश्न के प्रसंग में मण्डलजी की भाषिक निष्ठा और आंतरिक रचनात्मक आग्रह उद्घाटित होता है। प्रश्न के उत्तर में उनका यह विचार प्रकट होता है कि वे भले ही हिंदी साहित्य के विद्यार्थी रहे, पर मैथिली से उनका संबंध परिवार से समाज तक लगातार बना रहा। वे स्पष्ट कहते हैं कि जो विचार मैथिली में गहराई से व्यक्त हो सकता है, वह हिंदी में उसी तरह संभव नहीं हो पाता। इस कथन से उनके व्यक्तित्व के कई महत्त्वपूर्ण पक्ष खुलते हैं। वे भाषा-चयन को मात्र सुविधा या प्रतिष्ठा का प्रश्न नहीं मानते। भाषा उनके लिए आंतरिक अभिव्यक्ति का स्वाभाविक धरातल है। मैथिली में लिखना उनके लिए भावात्मक निर्णय भी है और सामाजिक निर्णय भी, साथ ही रचनात्मक सत्य भी है। यह भाषिक आत्मनिष्ठा उनके व्यक्तित्व को स्वाभिमानी और अस्मिताचेतस बनाती है। उनके भाषिक आग्रह का एक आंतरिक पक्ष यह भी है कि भाषा उनके लिए मात्र अभिव्यक्ति का साधन नहीं, आत्मपहचान का धरातल है। वे मैथिली में लिखने के निर्णय को किसी बाहरी आग्रह या भाषिक आग्रहण के रूप में नहीं देखते, बल्कि अपने अनुभव-जगत की स्वाभाविक परिणति के रूप में देखते हैं। इस प्रकार उनकी भाषिक निष्ठा केवल साहित्यिक विकल्प नहीं रह जाती, व्यक्तित्व के सांस्कृतिक स्वभाव का अंग बन जाती है। इसलिए प्रश्नोत्तर के अंशों में भाषा-चयन का प्रश्न वस्तुतः आत्मबोध, अस्मिता और रचनात्मक प्रामाणिकता का प्रश्न बनकर उद्घाटित होता है।

मुकेश दत्तजी के प्रश्न के उत्तर में मण्डलजी के जीवन की सामाजिक-सांस्कृतिक वर्गीकरण-क्षमता तीव्र रूप से सामने आती है। वे अपने परिवार की आर्थिक और सामाजिक स्थिति को वर्गीकृत करते हुए अपने जन्म-परिवेश को एक व्यापक सामाजिक संरचना के अंग के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इससे समझ में आता है कि उनका आत्मबोध केवल निजी जीवन का विवरण नहीं, समाजशास्त्रीय समझ से जुड़ा हुआ है। आशय यह है कि मण्डलजी अपने जीवन को केवल व्यक्तिगत सुख-दुःख के चश्मे से नहीं देखते। उनके 'स्व' की पहचान समाज के ताने-बाने और वर्ग-विभाजन से अभिन्न है। वे अपनी कथा कहते-कहते समाज के उस अदृश्य नक्शे को

खोल देते हैं, जिसमें आर्थिक विषमता और सामाजिक श्रेणीबद्धता स्पष्ट दिखाई देती है।

इन खंडों से मण्डलजी की परिवर्तन-चेतना भी प्रबल रूप से उद्घाटित होती है। नवयुवक रचनाकारों के लिए संदेश देते हुए वे कहते हैं कि व्यवस्था-परिवर्तन का प्रश्न न तो एक दिन में हल होता है और न किसी एक व्यक्ति के सामर्थ्य से पूरा हो सकता है। सबके कल्याण के लिए सबको सम्मिलित प्रयास करना पड़ेगा। "जागू, उठि कऽ ठाढ़ होउ, आगू बढ़ू" यानी "जागिए, उठकर खड़े होइए, आगे बढ़िए" जैसे वाक्य मण्डलजी के प्रेरक सार्वजनिक स्वर को सामने लाते हैं। इस संबोधन में कोई थोपी हुई भाषणबाजी नहीं, सामूहिक जागरण का आत्मीय आग्रह है। मण्डलजी नवपीढ़ी को केवल उपदेशक स्वर में नहीं, सहभागी के रूप में संबोधित करते हैं।

वे यह भी कहते हैं कि मिथिला सबकी मातृभूमि और मैथिली सबकी भाषा है। इस कथन में मण्डलजी मिथिला और मैथिली को किसी जाति, वर्ग, क्षेत्र या अभिजन-मंडली की निजी संपत्ति नहीं मानते। उनके यहाँ मातृभूमि और मातृभाषा साझा सांस्कृतिक अधिकार और साझा जिम्मेदारी, दोनों हैं। इसलिए मैथिलीप्रेम उनके यहाँ केवल भावुक आग्रह नहीं, समावेशी लोक-जवाबदेही का प्रश्न बन उठता है। उनके इस कथन में व्यक्तित्व की समावेशी चेतना, सार्वजनिक जिम्मेदारी और सांस्कृतिक साझेदारी का भाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

मुकेश दत्तजी के अंतिम प्रश्न पर मण्डलजी नवयुवक को "संदेशकर्ता" कहते हैं। यह बहुत अर्थपूर्ण बात है। वे युवा पीढ़ी को केवल सीख ग्रहण करने वाला समुदाय नहीं मानते। उनके यहाँ नवपीढ़ी स्वयं परिवर्तन की वाहक है। "ओ अपन शक्तिकेँ जगा अपनासँ परिचित करथु" अर्थात् "वे अपनी शक्ति को जगाकर अपने-आपसे परिचित हों" कहकर मण्डलजी युवा-चेतना के स्वायत्त स्वरूप को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व पितृसत्तात्मक निर्देशकारी रूप नहीं ग्रहण करता। वे प्रेरणादाता हैं, नियंत्रक नहीं। यह मानवीय उदारता और पीढ़ीगत विश्वास उनके व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

मण्डलजी का घोषित साहित्य-दर्शन प्रश्नोत्तर और परिसंवाद में प्रकट उनके व्यक्तित्व की पुष्टि करता है। उनके उत्तरों से स्पष्ट होता है कि वे लेखन को अनुशासित साधना, सामाजिक प्रतिबद्धता और जन-संवाद का माध्यम मानते हैं। रचना और जीवन उनके लिए अलग-अलग क्षेत्र नहीं हैं; विचार, कर्म और लेखन एक-दूसरे को प्रमाणित करते हैं। इसी संगति से उनके सार्वजनिक व्यक्तित्व को विश्वसनीयता प्राप्त होती है।

आलोचकों के मत भी इस बात का समर्थन करते हैं। गजेन्द्र ठाकुर के मूल्यांकन से स्पष्ट होता है कि मण्डलजी के कथ्य और कर्म के प्रति दृष्टिकोण में एकत्व है। "जे सोचै छी, जे करै छी, सएह लिखै छी" यानी "जो सोचते हैं, जो करते हैं, वही लिखते हैं।" इस मूल्यांकन का महत्त्व इसलिए बड़ा है कि यह मण्डलजी के व्यक्तित्व में विचार और व्यवहार के एकत्व की पुष्टि करता है। डॉ. योगानन्द झा के मतानुसार मण्डलजी समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध हैं और अज्ञान से ज्ञान की ओर जाने वाली यात्रा को अपने जीवन और लेखन, दोनों में जीते हैं। इस प्रकार के मूल्यांकन प्रश्नोत्तर-परिसंवाद में प्रत्यक्ष रूप से प्रकट व्यक्तित्व की पुष्टि करते हैं। मण्डलजी केवल लिखने वाले नहीं, अपनी लिखी बात पर चलने वाले, उसे जीने वाले रचनाकार के रूप में सामने आते हैं।

प्रश्नोत्तर और परिसंवाद के खंडों से मण्डलजी की संवादप्रियता स्पष्ट होती है। यहाँ वे कठिन प्रश्नों से कन्नी नहीं काटते। साहित्य का उद्देश्य, मुख्यधारा से कटे हुए महसूस होने का प्रश्न, भाषा-चयन, सामाजिक प्रतिनिधित्व, प्रारंभिक जीवन, नवपीढ़ी की भूमिका और व्यवस्था-परिवर्तन पर वे खुलकर उत्तर देते हैं। इस खुलेपन में एक प्रकार की नैतिक निर्भीकता निहित है। लेखक जब सार्वजनिक रूप से अपने विचार व्यक्त करता है, तब वह स्वयं को आलोचना के लिए भी प्रस्तुत करता है। मण्डलजी इस तैयारी से लैस हैं। इस आधार पर उनका व्यक्तित्व खुला, संवादशील, उत्तरदायी और निडर प्रतीत होता है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि उनके लिए निर्भय जीवन श्रेष्ठ जीवन है। मण्डलजी की निडरता केवल

व्यक्तिगत साहस नहीं, सार्वजनिक नैतिकता है। जो लेखक असुविधाजनक प्रश्नों से बचता नहीं और अपने विचारों को परीक्षण के लिए खुला रखता है, वह अपने साहित्यिक जीवन को सत्य, विवेक और समाज के प्रति उत्तरदायी बनाता है।

इन अंशों में मण्डलजी की लोकसंबद्ध विद्वत्ता भी प्रकट होती है। वे उच्च शिक्षित व्यक्ति हैं। हिंदी और राजनीति शास्त्र में स्नातकोत्तर हैं। फिर भी उनकी अभिव्यक्ति अकादमिक दुरूहता ग्रहण नहीं करती। वे गाँव, परिवार, जमीन, समाज, भाषा, रचना, व्यवस्था, युवा, सेवा और मातृभूमि जैसे शब्दों के माध्यम से अपने गहरे विचार रखते हैं। यही गुण जीवन-वृत्त में उल्लिखित उनकी लोकबोली-आधारित संवादपरक भाषा-शैली की पुष्टि करता है। उनके व्यक्तित्व का यह पक्ष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यहाँ विद्वत्ता लोक से कटती नहीं, लोक से जुड़कर अर्थवान बनती है। वे कठिन सामाजिक या साहित्यिक प्रश्नों पर विचार करते समय दुरूह भाषिक आडंबर का सहारा नहीं लेते। उनकी कथन-शैली में लोकजीवन की सहजता, बोलचाल की निकटता और संवाद की आत्मीय लय बनी रहती है। यही कारण है कि उनके उत्तर केवल विचारोत्तेजक नहीं, पठनीय और संप्रेषणीय भी बनते हैं। इस गुण से मण्डलजी के व्यक्तित्व में विद्वत्ता और लोकनिकटता का संतुलन स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

प्रश्नोत्तर और परिसंवाद में उद्घाटित मण्डलजी के व्यक्तित्व की एक सुंदर विशेषता स्वावलंबी स्वाभिमान भी है। वे अपनी मिट्टी, अपनी भाषा, अपने समाज और अपने अनुभव पर गहरा विश्वास रखते हैं। वे मैथिली को अपने विचार की सबसे स्वाभाविक अभिव्यक्ति-भूमि मानते हैं। वे मिथिला को सबकी मातृभूमि कहते हैं। वे नवपीढ़ी को अपनी शक्ति जगाकर अपने-आपसे परिचित होने की प्रेरणा देते हैं। इन वाक्यों से समझ में आता है कि उनका व्यक्तित्व परनिर्भरता पर आधारित नहीं है, आत्मबल पर आधारित है। साहित्यिक साधना, सामाजिक दृष्टि और भाषिक स्वाभिमान यहाँ एक सूत्र में दिखाई देते हैं। समग्र रूप से देखा जाए तो ये प्रश्नोत्तर-परिसंवाद खंड उनके व्यक्तित्व को बाहर से परिभाषित नहीं करते, भीतर से खुलते हुए

व्यक्तित्व के रूप में सामने लाते हैं। यहाँ लेखक के विचार, अनुभव, भाषा और मानवीय स्वभाव एक-दूसरे से जुड़ जाते हैं।

इस अध्याय के निष्कर्ष रूप में यह स्पष्ट होता है कि 'पयस्विनी' के प्रश्नोत्तर और परिसंवाद खंड मण्डलजी के व्यक्तित्व का बहुआयामी रूप उद्घाटित करते हैं। यहाँ विनम्रता, आत्मीयता, यथार्थपरक आत्मबोध, गाँव की मिट्टी से गहरा जुड़ाव और साहित्य के प्रति प्रतिबद्धता एक साथ उपस्थित हैं। भाषा-निष्ठा है। दबे-कुचले समाज की पक्षधरता है। निष्पक्ष अवलोकन और समाधानमुखी दृष्टि है। नवपीढ़ी के प्रति विश्वास है। सार्वजनिक संवाद के लिए तत्परता है। विचार, कर्म और लेखन का एकत्व है। इन सभी कारणों से यह कहना उचित होगा कि 'पयस्विनी' के प्रश्नोत्तर और परिसंवाद के अंश जगदीश प्रसाद मण्डलजी के व्यक्तित्व को समझने के लिए केवल सहायक सामग्री भर नहीं, मूल स्रोत के रूप में अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इन अंशों में रचनाकार स्वयं अपने स्वर में बोलते हैं, और उनसे उभरता व्यक्तित्व आधुनिक मैथिली साहित्य में एक लोकधर्मी, प्रतिबद्ध, संवादशील और मानवीय रचनाकार के रूप में स्थिर होता है। ❑

पयस्विनी के आलोक में जगदीश प्रसाद मण्डलजी का वैचारिक व्यक्तित्व

✳

जगदीश प्रसाद मण्डलजी के वैचारिक व्यक्तित्व को समझने के लिए केवल उनका जीवन-वृत्त, कृतिसूची या आलोचकों के मत पर्याप्त नहीं हैं। रचनाकार का वास्तविक वैचारिक स्वर वहाँ अधिक स्पष्ट होता है, जहाँ वह प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रश्न, असहमति, विश्वास, सामाजिक पक्षधरता और सांस्कृतिक आग्रह व्यक्त करता है। 'पयस्विनी' इस अर्थ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इसमें संकलित वैचारिक लेख, सांस्कृतिक विवेचन, सामाजिक प्रतिरोध, प्रश्नोत्तर और परिसंवाद मिलकर उनके भीतर के चिंतक को सामने लाते हैं। यहाँ वे केवल कथाकार या उपन्यासकार नहीं, सजग, तर्कशील, लोक-संबद्ध और सामाजिक रूप से उत्तरदायी वैचारिक व्यक्तित्व के रूप में उभरते हैं। कथा या उपन्यास में लेखक का विचार पात्र, कथानक या स्थिति के भीतर रह सकता है, पर प्रश्नोत्तर, सामाजिक लेख, सांस्कृतिक विवेचन और सार्वजनिक वक्तव्यों में लेखक स्वयं अपने स्वर में बोलता है। इसीलिए इस पुस्तक में उनके वैचारिक व्यक्तित्व का वह रूप उद्घाटित होता है, जो आत्मसजग, विचारोन्मुख और सार्वजनिक रूप से उत्तरदायी है।

मण्डलजी के वैचारिक व्यक्तित्व का मूल आधार लोकजीवन है। उनकी जीवन-दृष्टि का निर्माण पुस्तकालय के शुष्क ज्ञान से नहीं, गाँव,

खेती, श्रम, सामुदायिक संबंध, सामाजिक विषमता और लोकानुभव के निरंतर संसर्ग से हुआ है। उनका सामाजिक परिचय आत्मनिर्भर कृषक के रूप में सर्वविदित है। वे खेती को समाज-निर्माण का आधार मानते हैं। ऐसी जीवनभूमि से निकला विचार स्वाभाविक रूप से मिट्टी से जुड़ा, अनुभवसिद्ध और सामाजिक होता है। इसलिए उनका चिंतन अमूर्त दार्शनिक भाषा में सिमटा हुआ नहीं रहता। वह लोकजीवन के ठोस यथार्थ के आधार पर विकसित होता है। 'पयस्विनी' के भीतर यह लोक-संबद्ध वैचारिक आधार निरंतर सक्रिय दिखाई देता है। यहाँ विचार जीवन से बाहर पैदा नहीं होता, जीवन के भीतर से उगता है; इसी कारण मण्डलजी के वैचारिक स्वर में जमीन की गंध और सामाजिक यथार्थ का ताप एक साथ अनुभव होता है।

इस लोक-संबद्धता के साथ मण्डलजी के वैचारिक व्यक्तित्व का दूसरा केंद्रीय गुण तर्कशीलता है। 'अवतारवाद' में वे धार्मिक मिथक, अवतार-कल्पना, शास्त्रीय परंपरा और नैतिक प्रश्न के संबंध में जिस प्रकार एक के बाद एक प्रश्न उठाते हैं, उससे उनके चिंतन का मूल स्वभाव समझ में आता है। वे केवल श्रद्धा-आधारित पारंपरिक स्वीकृति से संतुष्ट नहीं हैं। वे पूछते हैं, परखते हैं, तर्क की कसौटी लगाते हैं और नैतिक परिणाम की परीक्षा भी करते हैं। यह तर्कशीलता केवल निषेध की मुद्रा नहीं है। इसमें मानवीय विवेक की पुनर्स्थापना का आग्रह निहित है। यह गुण उनके वैचारिक व्यक्तित्व को निर्भीक, स्वायत्त और आलोचनात्मक सिद्ध करता है। वे किसी मान्यता को केवल परंपरागत सम्मान के आधार पर स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं; उनके लिए विचार का मूल्य तभी है, जब वह परीक्षण के योग्य हो।

मण्डलजी प्रश्न केवल बौद्धिक विलास या दार्शनिक शास्त्रार्थ के लिए नहीं करते, उसके पीछे उनका एक नैतिक उद्देश्य रहता है। वे देखना चाहते हैं कि कोई विचार या परंपरा मानवता और न्याय की कसौटी पर कितना खरा उतरती है। उनकी प्रश्नाकुलता सत्य के अन्वेषण और समाज के नैतिक उत्थान के लिए प्रतिबद्ध है। उनके लिए किसी विचार की मान्यता तभी

अर्थपूर्ण है, जब वह मनुष्य की गरिमा, न्यायबोध और जीवन के सत्य से मेल खाए। यही कारण है कि अवतारवाद की आलोचना करते हुए वे अंततः मनुष्य के आत्मबल, विवेक और नैतिक स्वाधीनता के महत्त्व को प्रतिष्ठित करते हैं। यह दृष्टि बताती है कि मण्डलजी के वैचारिक व्यक्तित्व के केंद्र में मनुष्य है। कल्पित चमत्कार, अंधविश्वास, मिथकीय दमन या धार्मिक आडंबर उनके लिए विचार का अंतिम बिंदु नहीं, आलोचना का विषय है। इस प्रकार वे विवेकप्रधान लोकचिंतक के रूप में सामने आते हैं। तर्क यहाँ केवल बौद्धिक कसरत नहीं, मानवीय मुक्ति और नैतिक स्पष्टता का साधन बन जाता है।

सांस्कृतिक स्तर पर मण्डलजी का वैचारिक व्यक्तित्व समान रूप से सजग और गहरा है। 'संस्कार और संस्कार गीत' में वे मिथिला की संस्कृति को श्रद्धाभरी स्थिर इकाई के रूप में नहीं देखते। वे संस्कार के शास्त्रीय अर्थ, सामाजिक प्रयोजन, जातिगत भिन्नता और मौखिक परंपरा से जुड़ी ऐतिहासिक प्रक्रियाओं पर विचार करते हैं। इस लेख से स्पष्ट होता है कि उनके लिए संस्कृति संग्रहालय की वस्तु नहीं, जीवित समाज का व्यवहार, स्मृति और संरचना है। वे परंपरा को केवल स्मृति के रूप में सुरक्षित नहीं रखते, उसके भीतर व्याप्त सत्ता और शक्ति-संबंधों की सूक्ष्म पड़ताल भी करते हैं। फलस्वरूप उनका वैचारिक व्यक्तित्व लोकधर्मी सांस्कृतिक विवेक से संपन्न प्रतीत होता है। इसलिए उनके लिए संस्कृति केवल गौरवगान का विषय नहीं रह जाती, वह परीक्षण, पुनर्पाठ और सामाजिक सूझ-बूझ का क्षेत्र भी बनती है।

लोकजीवन के प्रति सम्मान और परंपरा का आलोचनात्मक पुनर्पाठ, ये दोनों गुण मण्डलजी को सांस्कृतिक दृष्टि से विशिष्ट बनाते हैं। वे मैथिल संस्कृति को निर्विवाद रूप में स्वीकार नहीं करते। मूलवासी समाज, द्विज वर्चस्व, लोकधर्म, संस्कार-व्यवस्था और व्यावहारिक विविधता के माध्यम से वे दिखाते हैं कि संस्कृति सत्ता के प्रभाव, लोकजीवन की जीवटता और ऐतिहासिक घालमेल का सम्मिलित परिणाम होती है। इस प्रकार की सोच से उनके वैचारिक व्यक्तित्व में एक ओर लोकसंवेदना है, तो दूसरी ओर

आलोचनात्मक इतिहासबोध भी। इसी संतुलन के कारण उनका सांस्कृतिक चिंतन न अंधश्रद्धा का अंग बनता है और न केवल वितंडावादी निषेध; वह विवेकपूर्ण और रचनात्मक पुनरावलोकन का रूप ग्रहण करता है।

मण्डलजी के वैचारिक व्यक्तित्व का सबसे उज्ज्वल पक्ष हाशिये के समाज के प्रति उनकी पक्षधरता है। 'वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष' में वे यह तथ्य रेखांकित करते हैं कि भाषा, साहित्य, संस्कृति और समाज के अंतर्संबंधों के बीच सत्ता-वर्चस्व की एक सूक्ष्म संरचना सक्रिय रहती है। बहुसंख्य लोकजीवन, विस्मृत समाज, उपेक्षित समुदाय और सामाजिक न्याय से वंचित मनुष्य का प्रश्न उनके चिंतन का प्रस्थान-बिंदु है। साक्षात्कार के क्रम में वे स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि मैथिली साहित्य का एक बड़ा हिस्सा अब भी मुख्यधारा से बाहर है; अतः अपनी रचना में उनका सतत प्रयास रहा है कि उस उपेक्षित समाज को सृजन के केंद्र में स्थापित किया जाए। यहाँ उनका साहित्यिक चयन वस्तुतः नैतिक प्रतिबद्धता बन जाता है। वे साहित्य की परिधि पर खड़े उन लोगों को केंद्र में लाना चाहते हैं, जिन्हें मुख्यधारा के सृजन और आलोचना ने लगातार हाशिये पर रखा है।

इस पक्षधरता को मात्र साहित्यिक अभिरुचि मानना पर्याप्त नहीं होगा; यह मण्डलजी के सामाजिक न्याय-बोध का आधार है। उनकी दृष्टि में साहित्य की सार्थकता तभी सिद्ध होती है, जब वह अदृश्य, मौन और उपेक्षित जीवन को अभिव्यक्ति प्रदान करे। इसलिए हाशिये के समाज को रचना के केन्द्र में लाना उनके लिए विषय-चयन भर नहीं, नैतिक और साहित्यिक उत्तरदायित्व है।

इस अर्थ में मण्डलजी का चिंतन जनपक्षीय और नैतिक, दोनों है। उनके वैचारिक व्यक्तित्व की एक महत्त्वपूर्ण धुरी साहित्य का लोकतंत्रीकरण है। उनके लिए साहित्य का उद्देश्य तभी पूर्ण होता है, जब वह केवल कुछ प्रतिष्ठित वर्गों की संवेदना तक सीमित न रहकर विस्मृत और कम-प्रतिनिधित्व प्राप्त समाज के अनुभव को भी अभिव्यक्ति के केंद्र में लाए। इसी कारण वे साहित्यिक प्रतिनिधित्व को केवल सौंदर्यबोध का

सीमित प्रश्न नहीं मानते; यह उनके लिए सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक भागीदारी और मानवीय गरिमा का अपरिहार्य प्रश्न बन जाता है। इस दृष्टि से उनका वैचारिक व्यक्तित्व केवल संवेदनशील नहीं, परिवर्तनमुखी और सामाजिक पुनर्संतुलन का सशक्त पक्षधर बनकर उभरता है।

मण्डलजी के वैचारिक व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण आयाम भाषा-निष्ठा है। प्रश्नोत्तर और सामाजिक लेखन से स्पष्ट होता है कि मैथिली उनके लिए केवल संवाद का माध्यम नहीं, आत्म-अभिव्यक्ति की स्वाभाविक भूमि है। वे भाषा और साहित्य का भेद अवश्य करते हैं, पर दोनों को सामाजिक जीवन का अभिन्न हिस्सा मानते हैं। उनकी दृष्टि में भाषा संवाद का सेतु है, तो साहित्य समाज का जीवंत दर्पण। इसी द्वैत-चेतना में उनका भाषिक व्यक्तित्व प्रखर होता है।

वे जनभाषा की प्रतिष्ठा, क्षेत्रीय विविधता, लोकबोली की स्वाभाविकता और भाषिक लोकतंत्रीकरण के प्रबल पक्षधर हैं। इसलिए मण्डलजी की भाषा-निष्ठा मात्र भावनात्मक आग्रह तक सीमित नहीं रहती, वह सामाजिक और सांस्कृतिक स्वाभिमान का सचेत रूप ग्रहण कर लेती है। उनके भाषिक आग्रह का एक आंतरिक पक्ष यह भी है कि भाषा अभिव्यक्ति के साधन से आगे बढ़कर आत्मपहचान का धरातल बनती है। वे मैथिली को अपने विचार के बाहरी उपकरण के रूप में नहीं देखते; उनके लिए यह उनके अनुभव-संसार को प्रकाशित करने वाली स्वाभाविक और अभिन्न ज्योति है। यही कारण है कि भाषा-चयन उनके लिए सुविधा, अवसर या प्रतिष्ठा का विषय नहीं रह जाता, बल्कि रचनात्मक प्रामाणिकता, सांस्कृतिक अस्मिता और आत्मिक स्वाभाविकता का प्रश्न बन जाता है। अतः यह भाषिक निष्ठा उनके वैचारिक व्यक्तित्व को दृढ़ता के साथ स्वाभिमानी आयाम प्रदान करती है।

मण्डलजी की सामाजिक दृष्टि में भाषा और साहित्य के कार्यगत अंतर का विशेष महत्त्व है। भाषा मनुष्य-मनुष्य के बीच संवाद स्थापित करती है, जबकि साहित्य यह निर्धारित करता है कि समाज के किन अनुभवों, वर्गों और जीवन-स्थितियों को अभिव्यक्ति मिलेगी। इसी आधार

पर वे भाषिक विविधता और साहित्यिक प्रतिनिधित्व को अलग-अलग, पर परस्पर संबद्ध प्रश्नों के रूप में देखते हैं। उनके लिए भाषा-विचार केवल व्याकरण अथवा रूप-विन्यास का विषय नहीं, सामाजिक स्मृति, सांस्कृतिक सहभागिता और न्यायपूर्ण प्रतिनिधित्व से जुड़ा प्रश्न है।

मूल लेख में मण्डलजी भाषा के इतिहास को भी वर्चस्व और प्रतिरोध की दृष्टि से देखते हैं। उनके कथनानुसार जनभाषा वैदिक रूप में प्रकट हुई, बाद में परिमार्जित होकर लौकिक संस्कृत बनी, पर जब वह बहुसंख्य जनमानस से दूर हो गई, तब पाली का उदय हुआ; फिर पाली के जनजीवन से कटते ही अपभ्रंश की स्थापना संभव हुई। इस विकास-क्रम के उल्लेख के माध्यम से मण्डलजी कहते हैं कि भाषा केवल व्याकरणिक संरचना नहीं, सामाजिक पहुँच और जन-संबंध पर निर्भर सत्ता-रचना भी है। अतः हाशिये के समाज के विमर्श में भाषा का प्रश्न केंद्रीय है, क्योंकि भाषा जब तक जनसमुदाय के निकट रहती है, तभी तक उसकी सामाजिक जीवंतता सुरक्षित रहती है। भाषा के इतिहास को इस रूप में पढ़ना वस्तुतः समाज के इतिहास को पढ़ना है।

भाषा संबंधी मण्डलजी की सोच उनके वैचारिक व्यक्तित्व के लोकतांत्रिक पक्ष को स्पष्ट करती है। वे भाषा को एकरूपी सत्ता नहीं मानते, समाज की विविध परतों से बनी जीवित संरचना के रूप में देखते हैं। परिनिष्ठित भाषा-बोध के अहंकार का विरोध और लोक-व्यवहार से जुड़ी भाषा-चेतना उनकी जनपक्षधर दृष्टि का स्वाभाविक विस्तार है। इस प्रसंग का विस्तृत विवेचन आगे भाषा, शैली, तर्क-पद्धति और गद्य-सौष्ठव संबंधी अध्याय में किया गया है। इस अध्याय के संदर्भ में मुख्य बात यह है कि मण्डलजी भाषा को केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं मानते; उसे लोकजीवन के अनुभव, स्मृति और सामाजिक सहभागिता के आधार के रूप में ग्रहण करते हैं।

साहित्य-दर्शन के स्तर पर मण्डलजी का वैचारिक व्यक्तित्व स्पष्ट और उत्तरदायी है। वे लेखन को आत्म-प्रदर्शन अथवा बौद्धिक आडंबर का साधन नहीं, सामाजिक दायित्व से जुड़ा नैतिक श्रम मानते हैं। इस श्रम का

लक्ष्य मौन पीड़ा, उपेक्षित समुदाय और लोकजीवन के दबे अनुभवों को अभिव्यक्ति देना है। इसी कारण उनकी लेखन-साधना और जीवन-साधना परस्पर संबद्ध दिखाई देती हैं।

प्रश्नोत्तर और परिसंवाद के अंश मण्डलजी की संवादधर्मिता को विशेष रूप से उद्घाटित करते हैं। वे कठिन प्रश्नों से बचने की कोशिश नहीं करते; अपनी स्थिति स्पष्ट करते हैं, साहित्य की आलोचना करते हैं, मैथिल समाज की सीमाएँ स्वीकार करते हैं और नवपीढ़ी के प्रति आशा प्रकट करते हैं। संघर्ष, परिवर्तन, भाषा, समाज, प्रतिनिधित्व, परंपरा, व्यवस्था, शिक्षा और जन-सरोकार पर भी वे खुलकर विचार रखते हैं। यह खुलापन उन्हें सार्वजनिक बौद्धिक व्यक्तित्व प्रदान करता है। वे एकांत में सीमित रहने वाले लेखक नहीं हैं। वे समाज से बात करने वाले, प्रश्न के लिए उपस्थित रहने वाले और असहमति के सामने भी खड़े रहने वाले चिंतक हैं। संवादधर्मिता केवल वैचारिक स्पष्टता की परिचायक नहीं है; यह उनकी मानवीय उदारता और लोकतांत्रिक व्यक्तित्व की सूचक भी है। जब लेखक कठिन प्रश्नों से कन्नी नहीं काटता, असहमति की संभावना को स्वीकार करता है और अपनी स्थिति खोलकर रखता है, तब वह सार्वजनिक नैतिकता निभाने वाले मनुष्य के रूप में सामने आता है। इस रूप में भी उनके व्यक्तित्व में संवादप्रियता, उत्तरदायित्व और नैतिक निर्भीकता एक-दूसरे से जुड़ी हुई है।

इस संवादधर्मिता के साथ मण्डलजी के व्यक्तित्व में आत्मालोचन की क्षमता भी विशेष रूप से दिखाई देती है। मैथिली साहित्य 'एकतरफा' हो गया है, समाज का अधिकांश हिस्सा कटकर किनारे हो गया है, ऐसे स्पष्ट कथन आत्मालोचन के बिना संभव नहीं। मण्डलजी स्वयं मैथिली साहित्य-समाज के भीतर हैं, पर उससे मोहित नहीं हैं। वे उसकी सीमाएँ देखते हैं, उसके दोष कहते हैं और उसके परिवर्तन की आवश्यकता को रेखांकित करते हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि जगदीश प्रसाद मण्डलजी का वैचारिक व्यक्तित्व आत्ममुग्ध नहीं, आत्मसजग है। वे आत्मालोचन को साहित्यिक विनय की भावुक मुद्रा नहीं बनाते, सुधार, पुनर्संतुलन और

वैचारिक ईमानदारी की आवश्यक शर्त के रूप में ग्रहण करते हैं।

मण्डलजी के वैचारिक व्यक्तित्व का एक अंतःसूत्र परिवर्तन-चेतना है। यद्यपि 'पयस्विनी' का प्रत्येक लेख अलग विषय का है, फिर भी उसकी भीतरी दिशा समाज के बदलाव, सांस्कृतिक पुनर्विचार, भाषिक जागरण, लोकपक्षीय साहित्यिक पुनर्संतुलन और सामाजिक न्याय की ओर दिखाई देती है। वे अतीत की चर्चा करते हैं, पर अतीत में फँसते नहीं। वे परंपरा को भी पढ़ते हैं, पर वर्तमान की कसौटी पर। वे समाज के दोष भी देखते हैं, पर निराश होकर नहीं। "जागू, उठि कऽ ठाढ़ होउ, आगू बढ़ू" जैसा आह्वान उनके वैचारिक स्वभाव के गतिशील पक्ष को सामने लाता है। इस कारण उनका चिंतन स्थिर समीक्षा नहीं, परिवर्तनमुखी लोक-विचार बन जाता है। यहाँ आलोचना और आशा परस्पर विरोधी नहीं, एक ही परिवर्तनशील दृष्टि के दो रूप बनकर प्रकट होती हैं।

समग्र 'पयस्विनी' पढ़ने पर अनुभव होता है कि मण्डलजी का वैचारिक व्यक्तित्व केवल विचार के स्तर पर निर्मित नहीं है। इसमें जीवन-अनुभव, सामाजिक संघर्ष, भाषिक निष्ठा, सांस्कृतिक सजगता और नैतिक उत्तरदायित्व एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। फलस्वरूप उनका वैचारिक स्वर अकादमिक दुरूहता या पांडित्य-प्रदर्शन को ग्रहण नहीं करता, व्यवहार, अनुभव और जनजीवन की मिट्टी से जुड़ा रहता है। यहाँ लेखक के वैचारिक निष्कर्ष, जीवन-दृष्टि और सामाजिक पक्षधरता किसी पृथक धरातल पर खड़े नहीं दिखते; वे उनके एकात्म व्यक्तित्व की पूरक और सुसंगत अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होते हैं।

समग्र रूप से देखा जाए तो 'पयस्विनी' के आलोक में मण्डलजी का जो वैचारिक व्यक्तित्व उद्घाटित होता है, वह एकांगी नहीं दिखाई देता। वह बहुआयामी, लोक-संबद्ध, तर्कशील, सांस्कृतिक रूप से सजग और जनपक्षधर व्यक्तित्व के रूप में स्थापित होता है। वे लोक-संबद्ध हैं। वे तर्कशील हैं। वे सांस्कृतिक रूप से सजग हैं। वे सामाजिक न्याय के पक्षधर हैं। वे मातृभाषा के प्रति निष्ठावान हैं। वे संवादधर्मी हैं। वे आत्मालोचन से संपन्न हैं। वे लेखन को नैतिक दायित्व मानते हैं। वे वंचित समाज को साहित्य

के केंद्र में लाने के लिए प्रयत्नशील चिंतक हैं। इस प्रकार उनका वैचारिक व्यक्तित्व आधुनिक मैथिली साहित्य में इस रूप में स्थापित होता है, जहाँ लोकजीवन, प्रतिरोध, भाषा, संस्कृति और जन-संबद्ध नैतिकता एक-दूसरे से अभिन्न हैं। अतः कहा जा सकता है कि 'पयस्विनी' इस अभिन्न वैचारिक व्यक्तित्व का सबसे सघन पाठ है। ❑

पयस्विनी की भाषा, शैली, तर्क-पद्धति और गद्य-सौष्ठव

‘पयस्विनी’ का साहित्यिक महत्त्व केवल उसके विषय-विस्तार में सीमित नहीं है, बल्कि इस पुस्तक की वास्तविक शक्ति उसकी भाषा, शैली, तर्क-पद्धति और गद्य-सौष्ठव में निहित है। किसी रचनाकार की वैचारिक सामग्री मजबूत हो, केवल इतना भर होने से पाठक पर स्थायी प्रभाव अपने-आप उत्पन्न नहीं होता। प्रभाव तभी संभव होता है, जब विचार के अनुरूप भाषा मिले, शैली विचार का भार वहन करे, तर्क का क्रम स्पष्ट रहे और गद्य अपनी आंतरिक गरिमा बनाए रखे। ‘पयस्विनी’ इन चारों दृष्टियों से विचार करने योग्य कृति है। जगदीश प्रसाद मण्डलजी के व्यक्तित्व और कृतित्व के संदर्भ में उनकी भाषा-शैली को “सजीव, लोकबोली-आधारित, संवादपरक” कहकर रेखांकित किया गया है। साथ ही उनके अनुशासन, शुद्धलेखन, नियमित पुनर्पाठ और शब्द-गणना के अभ्यास का उल्लेख भी मिलता है। ये सभी तथ्य स्पष्ट करते हैं कि ‘पयस्विनी’ का गद्य संयोग की उपज नहीं, दीर्घ साधना, सजगता और अनुशासित रचनात्मक व्यवहार का परिणाम है।

सबसे पहले ‘पयस्विनी’ की भाषा पर विचार करना आवश्यक है। मण्डलजी की भाषा जनजीवन से उपजी हुई भाषा है। इसमें लोकबोली की गंध, व्यवहार की सहजता, संवाद की त्वरा और विचार की स्पष्टता एक साथ मिलती है। वे शुष्क दार्शनिक शब्दाडंबर का सहारा नहीं लेते। उनके यहाँ शब्दों का चयन इस ढंग से होता है कि रचना और पाठक के बीच कोई

दूरी नहीं रह जाती; भाषा सीधे पाठक के अनुभव, संवेदना और विचार-क्षेत्र में प्रवेश कर जाती है। 'अवतारवाद' का आरंभिक विन्यास देखा जाए तो "जीव और ईश्वर" जैसे सरल पदबंध के बाद एकदम सीधा प्रश्न उठता है। देह धारण करना, जन्म लेना, मरना, सर्वव्यापक होना, हत्या करना, छल करना, भीख माँगना आदि ऐसे व्यावहारिक शब्द हैं, जो पाठक के अनुभव-क्षेत्र से बाहर नहीं हैं। इसी कारण मण्डलजी का दार्शनिक विमर्श दुरूह नहीं बनता; वह जनभाषिक तर्क का रूप धारण करता है। विचार और भाषा के बीच कोई कृत्रिम अंतराल नहीं रहता।

मण्डलजी भाषा की सैद्धांतिक समझ भी रखते हैं। 'वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष' लेख में वे स्पष्ट कहते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण है और भाषा एक-दूसरे के बीच संवाद स्थापित करने का माध्यम। इस कथन से उनकी भाषिक दृष्टि उद्घाटित होती है। साथ ही यह भी समझ में आता है कि भाषा उनके लिए केवल अभिव्यक्ति का साधन नहीं, सामाजिक संबंध, अनुभव-प्रेषण और सामुदायिक उपस्थिति-निर्माण का आधार है। जनभाषा से वैदिक रूप, उससे लौकिक संस्कृत, फिर पाली और अपभ्रंश तक भाषिक विकास की जो रूपरेखा वे रखते हैं, उससे स्पष्ट होता है कि भाषा पर उनका विचार ऐतिहासिक, सामाजिक और जनपक्षीय है। वे भाषा को जीवित प्रक्रिया मानते हैं। भाषा समय के साथ बदलती है। क्षेत्र के अनुसार रूप ग्रहण करती है। जन-समुदाय से कट जाने पर भाषा अपना स्वाभाविक प्रवाह, लोकस्वीकृति और संवाद की शक्ति खो देती है; फलतः उसका विरोध या अस्वीकार स्वाभाविक बन जाता है। इसी कारण 'पयस्विनी' का भाषा-चिंतन किसी स्थिर, गतिहीन और एकरूपी शुद्धतावाद पर आधारित नहीं है, बल्कि भाषा के जीवित प्रवाह, लोक-व्यवहार और बहुरूपी विकास पर आधारित है।

इस भाषिक दृष्टि का व्यावहारिक रूप मण्डलजी की शैली में भी दिखाई देता है। वे परिनिष्ठित भाषा-बोध के अहंकार का विरोध करते हैं। क्षेत्रीय मैथिली, जातिगत बोली-वाणी और सामाजिक जीवन के भाषिक अंतर की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि यदि एक गाँव-समाज में अनेक

जातियों के लोग हैं, तो सबकी बोली-वाणी और सामाजिक जीवन में अंतर रहेगा ही। इस तरह की टिप्पणी बताती है कि मण्डलजी भाषिक एकरूपता के वर्चस्व को स्वीकार नहीं करते। उनकी भाषा-संवेदना लोकतांत्रिक है। वे भाषा के भीतर लोकजीवन की विविधता सुनते हैं। इसलिए 'पयस्विनी' की भाषा औपचारिकता और जीवित अभिव्यक्ति के बीच संतुलन बनाए रखती है। लिखित गद्य होते हुए भी उसके भीतर बोले जाते जनजीवन की लय सुनाई पड़ती है। इसी कारण पाठक को यह भाषा अपनी लगती है।

मण्डलजी की भाषा-शैली को संवादोन्मुख, लोक-मुहावरे और रोजमर्रा की बोली से जुड़ी हुई शैली के रूप में चिह्नित किया गया है। यह मूल्यांकन 'पयस्विनी' पर पूरी तरह लागू होता है। इस पुस्तक के बहुत-से गद्यांश ऐसे हैं, जहाँ लिखित निबंध और बोले गए विचार के बीच की दूरी घट जाती है। वाक्य-रचना यदि कहीं शास्त्रीय संयम धारण करती है, तो तुरंत उसके पीछे कोई बोलचाल का मुहावरा, प्रश्न, उदाहरण, कहावत या प्रतिप्रश्न भी आ जाता है। यह विन्यास गद्य को कठोर नहीं होने देता। उसका स्वर मानवीय बना रहता है। पाठक को अनुभव होता है कि कोई जीवन-साक्षी रचनाकार अपनी बात साफ-साफ कह रहा है। इस संवादपरकता से 'पयस्विनी' की भाषा आंतरिक आत्मीयता प्राप्त करती है। यहाँ विद्वत्ता पाठक पर थोपी नहीं जाती; वह संवाद के रूप में खुलती है।

अब जगदीश प्रसाद मण्डलजी की शैली पर विचार करना आवश्यक है। उनकी शैली का पहला गुण प्रत्यक्षता है। वे घुमा-फिराकर नहीं कहते। जिस बात को लेकर प्रश्न है, उसी पर सीधी उँगली रखते हैं। 'अवतारवाद' में एक के बाद एक प्रश्न की माला जैसी शैली विकसित होती है। ईश्वर सर्वदयालु है तो हिंसा कैसे? सर्वव्यापक है तो आने-जाने की आवश्यकता क्या? वामनावतार छल का रूप क्यों धारण करता है? ऐसे प्रश्न-आधारित शैली पाठक के भीतर आलोचनात्मक जागरण उत्पन्न करती है। इसमें वक्रता कम है, तर्कधर्मी सीधापन अधिक है। इस सीधापन के कारण गद्य स्मरणीय बनता है। पाठक उनके विचार को समझे बिना आगे नहीं बढ़ सकता। प्रश्न वाक्य-संरचना के भीतर सक्रिय शक्ति बन जाता है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण शैलीगत गुण विचार और अनुभव का मिश्रण है। मण्डलजी शास्त्रीय संदर्भ देते हैं, पर शास्त्र पर अटकते नहीं। 'अवतारवाद' में 'शतपथ ब्राह्मण', 'तैत्तिरीय 'तैत्तिरीय संहिता', 'ऐतरेय ब्राह्मण', पुराण, भागवत आदि के उल्लेख के साथ वे वर्तमान मानवीय विवेक की कसौटी का प्रयोग करते हैं। "हम सब इक्कीसवीं शताब्दी की समर्थ चेतना हैं" जैसा वाक्य शैली का दार्शनिक मोड़ चिह्नित करता है। इस शैली में परंपरा और वर्तमान के बीच एक जीवित मुठभेड़ घटित होती है। लेखक इतिहास बताते हैं और तत्काल उस इतिहास का नैतिक परिणाम पूछते हैं। इसलिए प्रस्तुत गद्य विचार का संग्रह मात्र नहीं रह जाता, वैचारिक टकराव का सक्रिय क्षेत्र बन जाता है।

तीसरी शैलीगत विशेषता लोकधर्मी व्याख्यात्मकता है। 'संस्कार और संस्कार गीत' में मण्डलजी इसे बहुत स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करते हैं। पहले वे संस्कार का अर्थ स्पष्ट करते हैं। फिर शास्त्रीय अर्थ से सामाजिक अर्थ की ओर बढ़ते हैं। इसके बाद मिथिला के व्यावहारिक जीवन में उपनयन, मुंडन, विवाह, मृत्यु, गीत, जातिगत भिन्नता, स्त्री की भागीदारी, लोक-परंपरा आदि के रूप सामने लाते हैं। इस शैली में अवधारणा और उदाहरण प्रायः साथ-साथ चलते हैं। पाठक को परिभाषा भी मिलती है, स्थिति भी और उसका सामाजिक अर्थ भी। यह व्याख्यात्मक संतुलन मण्डलजी की शैली को शोधोपयोगी बनाता है। वे केवल कहते नहीं, खोलकर समझाने का प्रयास भी करते हैं।

चौथा शैलीगत गुण संवादात्मकता है। यह गुण केवल प्रश्नोत्तर-खंड में ही नहीं, पूरी 'पयस्विनी' की रचनात्मक बनावट में मिलता है। प्रश्नोत्तर और परिसंवाद तो प्रत्यक्ष रूप से संवादात्मक हैं। लेकिन निबंधों में भी लेखक प्रश्न का आश्रय लेते हैं, काल्पनिक पाठक से बात करते हैं, कहावत, उदाहरण, अनुभव, प्रतिप्रश्न और लोक-संबोधन का प्रयोग करते हैं। यही कारण है कि गद्य शुष्क अकादमिक निबंध नहीं बनता। वह लोक-सभा में बोले, सुने और फिर लिखकर सुरक्षित किए गए विचार जैसा प्रतीत होता है। इसी कारण 'पयस्विनी' की सार्वजनिकता और पठनीयता, दोनों बढ़ती

हैं। पाठक निष्क्रिय ग्रहणकर्ता नहीं रह जाता, वह अनायास विचार का सहभागी बन जाता है।

अब तर्क-पद्धति पर विचार किया जाए। मण्डलजी की तर्क-पद्धति का पहला गुण प्रश्नोन्मुखता है। वे निष्कर्ष थोपते नहीं। वे प्रश्न उठाते हैं, तर्क की स्थितियाँ निर्मित करते हैं और पाठक को सोचने के लिए बाध्य करते हैं। 'अवतारवाद' में यह पद्धति अत्यंत स्पष्ट है। पहले परंपरागत ईश्वर-परिभाषा रखी गई। उसके बाद मिथकीय घटनाओं का नैतिक परीक्षण किया गया। फिर शास्त्रीय स्रोतों का ऐतिहासिक क्रम दिखाया गया। अंत में निष्कर्ष मानवीय विवेक के समर्थन में पहुँचता है। यह पूरा क्रम एक सुव्यवस्थित तर्क-पद्धति का द्योतक है। वे प्रतिज्ञा, उदाहरण, संदर्भ, तुलना और निष्कर्ष की एक सघन लय उत्पन्न करते हैं। इस तर्क-क्रम में पाठक को मत तो मिलता ही है, उसके साथ सोचने की प्रक्रिया भी मिलती है।

दूसरी तर्कगत विशेषता शास्त्रीय संदर्भ और व्यावहारिक विवेक का संयुक्त प्रयोग है। मण्डलजी केवल अनुभववादी नहीं हैं, केवल ग्रंथवादी भी नहीं हैं। वे शास्त्र का उल्लेख करते हैं, पर उसका उपयोग अंधस्वीकृति के लिए नहीं, परीक्षा के लिए करते हैं। शास्त्र के भीतर की बहुलता, परंपरा का विकासक्रम, कथा का रूपांतरण और अवधारणा के इतिहास को पहले चिह्नित करते हैं, फिर पूछते हैं कि यह कितना मानवीय, कितना न्यायसंगत और कितना तर्कसम्मत है। इससे उनकी तर्क-पद्धति दो स्तरों पर सक्रिय दिखाई देती है। पहले स्तर पर वे शास्त्रीय स्रोत, परंपरा और ऐतिहासिक संदर्भ का गंभीरता से परीक्षण करते हैं; दूसरे स्तर पर उन सबको मानवीय न्याय, सामाजिक उपयोगिता और तर्क की कसौटी पर परखते हैं। वे स्रोत के महत्त्व को स्वीकार करते हैं, पर उसे अंतिम सत्य मानकर चुप नहीं रहते। स्रोत के प्रति सम्मान रखते हुए भी वे आलोचनात्मक विवेक को सक्रिय रखते हैं। इसी संतुलन के कारण उनका गद्य न भावनात्मक आवेग में बहता है और न पांडित्य-प्रदर्शन की बोझिलता में फँसता है; वह विचार, प्रमाण और विवेक का संतुलित रूप बनकर सामने आता है।

मण्डलजी की तर्क-पद्धति का तीसरा महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि वे

किसी विचार का मूल्यांकन केवल सिद्धांत के स्तर पर नहीं करते, उसके सामाजिक परिणाम पर भी ध्यान देते हैं। उनका तर्क सैद्धांतिक सत्य की खोज तक सीमित नहीं रहता। वे बार-बार पूछते हैं कि कोई विचार या व्यवस्था मनुष्य पर क्या असर डालती है। अवतारवाद मनुष्य में हीन-भावना को जन्म देता है, उनका यह निष्कर्ष इसी बात का उदाहरण है। 'वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष' में भाषा, साहित्य और संस्कृति पर विचार करते हुए वे सामाजिक प्रतिनिधित्व, लोकतंत्रीकरण, शिक्षा, आरक्षण, नारी-जागरण और सार्वजनिक संस्थाओं की जिम्मेदारी तक पहुँचते हैं। अर्थात् तर्क का लक्ष्य केवल विचार की शुद्धता नहीं, सामाजिक जीवन की दिशा भी है। यह सामाजिक परिणतिमूलक तर्क-पद्धति उनके गद्य को व्यावहारिक और प्रासंगिक बनाती है। यहाँ विचार जीवन से कटता नहीं, जीवन में उतरकर अपना असर दिखाता है।

चौथा गुण निष्पक्ष रूप से देखने की चेष्टा है। प्रश्नोत्तर में मण्डलजी स्वयं कहते हैं कि किसी समस्या या घटना के प्रति उनका हमेशा प्रयास रहता है कि निष्पक्ष होकर देखें भी और निराकरण भी करें। यह गुण उनकी तर्क-पद्धति का असली सूत्र है। वे पूर्वाग्रह से भरे भावावेग के लेखक नहीं हैं। उनके यहाँ पक्षधरता अवश्य है, पर वह बिना सोचे-विचारे भावुक आग्रह में परिवर्तित नहीं होती। निष्पक्षता उनके लिए उदासीनता नहीं, वस्तुस्थिति का ईमानदार मूल्यांकन है। तर्क के बाद समाधान की दिशा दिखाने वाली प्रवृत्ति इस कथन से पुष्ट होती है। यही कारण है कि उनका लेखन प्रतिरोधी होते हुए भी अराजक नहीं बनता।

अब गद्य-सौष्ठव के प्रश्न पर विचार किया जाए। गद्य-सौष्ठव का अर्थ केवल अलंकृत भाषा नहीं होता। इसका अर्थ विचार के अनुरूप गद्य का गठन, वाक्य-प्रवाह, अर्थ-संयम, लय, शब्द-चयन, प्रभावोत्पादकता और संपूर्ण अभिव्यक्ति का कलात्मक संयोजन होता है। 'पयस्विनी' के गद्य-सौष्ठव का पहला गुण स्वाभाविक प्रवाह है। डॉ. धीरेन्द्र कुमार के मूल्यांकन में मण्डलजी की रचनाओं में "निरंतर प्रवाह" और "सजीव चित्रण" का उल्लेख है। इस तरह के मूल्यांकन का महत्त्व 'पयस्विनी' का गद्य पढ़ते ही

सिद्ध हो जाता है। विचार एक विषय से दूसरे विषय तक झटका देकर नहीं जाता; वह क्रमशः खुलता, फैलता और अपनी तर्क-लय में आगे बढ़ता है। 'पयस्विनी' के गद्य का सौष्ठव इसी क्रमिकता, अर्थ-संयम, वाक्य-प्रवाह और विचार के स्वाभाविक प्रसरण में निहित है। यहाँ गद्य सजावट से नहीं, विचार की स्पष्ट गति और पाठकीय बोधगम्यता से प्रभावी बनता है। इसी कारण गद्य का प्रवाह अत्यंत सहज बन जाता है। पाठक अवरोध की अनुभूति के बिना विचार के साथ चलता रहता है।

दूसरा गुण सजीवता है। यह सजीवता 'पयस्विनी' में अनेक रूपों में दिखाई देती है। मिथकीय प्रसंग की चर्चा हो, संस्कार-गीत की चर्चा हो, ग्रामीण भाषिक विभेद की चर्चा हो या आरक्षण-व्यवस्था की विडंबना की चर्चा हो, कहीं भी मण्डलजी अमूर्त कथन पर नहीं रुकते। वे दृश्य बनाते हैं, स्थिति रखते हैं, व्यवहार के ठोस उदाहरण देते हैं। इस सजीवता से उनका गद्य विचारपूर्ण होते हुए भी निर्जीव नहीं बनता। इससे पाठक को दृश्य, स्वर और सामाजिक तनाव की अनुभूति होती है। इसी कारण गद्य केवल पढ़ा नहीं जाता, अनुभव भी किया जाता है।

तीसरा गुण लोकबोधजन्य सौंदर्य है। मण्डलजी के गद्य में लोक की कहावत, स्वाभाविक मुहावरा, क्षेत्रीय शब्द-संवेदना, बोली का स्पर्श और व्यवहार की अनगढ़ जीवटता रहती है। इसलिए उनका गद्य पढ़ते समय कृत्रिम विद्वत्ता बाधा नहीं बनती। शब्द जीवित रहते हैं। इस प्रकार का गद्य-सौष्ठव अकादमिक प्रशंसा मात्र का विषय नहीं रह जाता, भाषिक संस्कृति बचाने का साधन भी बनता है। मण्डलजी स्वयं मैथिली को जनभाषा कहते हैं और उसके विकास को समय के अनुकूल बदलती रहने वाली प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। भाषा-बोध का यह लचीलापन और जीवन-स्पर्श उनके गद्य के सौष्ठव को गतिशील बनाता है।

चौथा गुण संरचनात्मक अनुशासन है। मण्डलजी के लेखन में शुद्धता, नियमित पुनर्पाठ और शब्द-गणना का अभ्यास विशेष रूप से दृष्टिगत होता है। इस अनुशासन का प्रभाव उनके गद्य पर स्पष्ट दिखाई देता है। उनके लेखन में विषय का फलक अवश्य विस्तृत होता है, पर वह

बिखरता नहीं। प्रत्येक लेख अपना एक निश्चित केंद्रबिंदु धारण करता है और विचार उसी केंद्र के चारों ओर क्रमबद्ध रूप से विकसित होता है। प्रश्नोत्तर में उनके उत्तर विषयानुकूल दिशा में आगे बढ़ते हैं। सांस्कृतिक लेखों में सामग्री का विस्तार होते हुए भी मुख्य सूत्र नहीं छूटता। यह गुण लेखन-अनुशासन के बिना संभव नहीं। फलस्वरूप 'पयस्विनी' के गद्य-सौष्ठव की चर्चा करते समय शिल्प के इस अदृश्य अनुशासन को अवश्य स्मरण करना चाहिए। यह अनुशासन उनके गद्य को ठहराव, संतुलन और विश्वसनीयता प्रदान करता है।

पाँचवाँ गुण विचार के अनुरूप भाषिक स्वर है। मण्डलजी जब हाशिये के समाज के प्रश्न पर लिखते हैं, तब उनकी भाषा तेजस्वी, सजग और प्रतिरोधधर्मी हो उठती है। जब वे संस्कार-गीत या लोक-संस्कृति की चर्चा करते हैं, तब उनका स्वर व्याख्यात्मक, सांस्कृतिक और संवेदनशील बन जाता है। उसी तरह प्रश्नोत्तर में जब वे आत्मीयता के साथ अपनी रचनात्मक यात्रा बताते हैं, तब भाषा आत्मकथात्मक अपनत्व ग्रहण करती है। जब वे साहित्य की भूमिका, भाषा के सामाजिक महत्त्व या मानवीय मूल्य पर विचार करते हैं, तब उनके वाक्य अधिक घोषणात्मक, विचारप्रधान और दार्शनिक हो जाते हैं। इस प्रकार का प्रसंगानुकूल स्वर-परिवर्तन उनकी शैली की परिपक्वता प्रमाणित करता है। उनका गद्य एकरेखीय नहीं है; वह विषय, प्रसंग और भावभूमि के अनुरूप अपना रूप बदलता चलता है। इस लचीलेपन में उनके गद्य-सौष्ठव का महत्त्वपूर्ण अंश निहित है। इसी कारण 'पयस्विनी' के विविध लेख अलग-अलग विषय पर आधारित होते हुए भी समग्र रूप से एक ही सजग, लोकधर्मी और विचारशील रचनाकार के वैचारिक व्यक्तित्व को उद्घाटित करते हैं।

मण्डलजी के गद्य-सौष्ठव का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष विचार और भाव का संतुलित समन्वय भी है। उनके यहाँ विचार की प्रखरता है, पर वह शुष्क बौद्धिक रूप में उपस्थित नहीं होती। वे दबे और उपेक्षित समाज के पक्ष में स्पष्ट स्वर उठाते हैं, पर यह स्वर विवेकहीन भावुकता में नहीं बदलता। वे अवतारवाद की आलोचना करते हैं, पर इस आलोचना में क्रोध का असंयम

नहीं, तर्क का अनुशासन दिखाई देता है। वे भाषा की बहुरूपता पर बल देते हैं, पर भाषा-विमर्श को विखंडनवादी अतिशयता तक नहीं ले जाते। वे नवपीढ़ी को संबोधित करते हैं, पर उनका संबोधन उपदेशात्मक बोझिलता में परिवर्तित नहीं होता। इस प्रकार की संयत, स्पष्ट और संतुलित अभिव्यक्ति में उनके गद्य की वास्तविक गरिमा निहित है। इसलिए उनका गद्य एक साथ मानवीय, विचारशील और आत्मीय बन उठता है। पाठक को इस गद्य में विचार की दृढ़ता और अनुभूति का अपनत्व एक साथ प्राप्त होता है।

प्रस्तुत अध्याय के निष्कर्ष के रूप में यह कहना उचित होगा कि 'पयस्विनी' की भाषा जनजीवन से उपजी हुई, लोकबोली-आधारित, संवादपरक और सजीव है। इसकी शैली प्रत्यक्ष, प्रश्नोन्मुख, व्याख्यात्मक, लोकधर्मी और प्रसंगानुकूल रूप से परिवर्तित होती रहती है। इसकी तर्क-पद्धति प्रश्न, उदाहरण, शास्त्रीय संदर्भ, सामाजिक विवेक, निष्पक्ष अवलोकन और समाधानोन्मुख निष्कर्ष के क्रम में विकसित होती है। इसका गद्य-सौष्ठव प्रवाह, सजीवता, संरचनात्मक अनुशासन, लोकबोध, भाषिक स्वर के लचीलेपन और विचार-भाव के संतुलन में निहित है। इस दृष्टि से 'पयस्विनी' केवल विषयगत स्तर पर महत्त्वपूर्ण नहीं, भाषिक और शैलीगत स्तर पर भी उल्लेखनीय कृति सिद्ध होती है। मण्डलजी का गद्य यहाँ पठनीय, विचारोत्तेजक, स्मरणीय और विश्लेषणयोग्य रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार 'पयस्विनी' मैथिली गद्य-साहित्य की एक उल्लेखनीय और मूल्यवान कृति है। ❑

पयस्विनी का रचना-शिल्प, विन्यास और अभिव्यक्ति-कौशल

✳

'पयस्विनी' का प्रभाव केवल उसकी विचार-वस्तु, सामाजिक सरोकार और सांस्कृतिक गहराई में ही नहीं, उसके रचना-शिल्प में भी निहित है। यदि किसी पुस्तक में सामग्री गंभीर हो, और विन्यास बिखरा हुआ, प्रस्तुति असंतुलित और अभिव्यक्ति निष्प्राण हो, तो पाठकीय प्रभाव कम हो जाता है। 'पयस्विनी' इस अर्थ में उल्लेखनीय है कि विविध प्रकृति की सामग्री का समावेश होने पर भी यह आकस्मिक संग्रह जैसी नहीं लगती। इसे क्रमशः खुलती हुई वैचारिक-सांस्कृतिक गद्य-यात्रा के रूप में अनुभव किया जा सकता है। शीर्षक-पृष्ठ पर इसे शोध-पत्र, निबंध और समीक्षा का संग्रह कहा गया है, पर अनुक्रम देखने से समझ में आता है कि यह केवल लेखों का संग्रह नहीं, आंतरिक रूप से संगठित बौद्धिक दस्तावेज है।

'पयस्विनी' के संदर्भ में रचना-शिल्प का प्रश्न इसलिए और महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि मण्डलजी का समग्र लेखन-संस्कार अनुशासन, पुनर्पाठ, स्वच्छ प्रारूप-निर्माण, लोकबोली की जीवित संवेदना और सार्वजनिक लेखकीय जिम्मेदारी पर आधारित है। जगदीश प्रसाद मण्डलजी के लेखन-अनुशासन, शुद्ध लेखन, नियमित पुनर्पाठ, शब्द-गणना और लोक-आधारित संवादपरक भाषा-शैली का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इस आधार पर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि 'पयस्विनी' का स्थापत्य आकस्मिक नहीं, दीर्घ अभ्यास और रचनात्मक सजगता से निर्मित है। यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि रचना-शिल्प का अर्थ केवल

बाहरी गठन नहीं है। उसका संबंध सामग्री के क्रम, विचार की प्रस्तुति-विधि, भिन्न गद्य-रूपों के संयोजन और पाठक पर पड़ने वाले समग्र प्रभाव से है। 'पयस्विनी' में ये सभी तत्त्व परस्पर संबद्ध रूप से सक्रिय दिखाई देते हैं। इसलिए इसके शिल्प की चर्चा मात्र रूपगत चर्चा नहीं, वैचारिक प्रभाव की चर्चा भी है।

समग्र विन्यास: संग्रह से अधिक, एक विचार-यात्रा

'पयस्विनी' का अनुक्रम अपने-आप में एक महत्त्वपूर्ण पाठ है। 'अवतारवाद' से आरंभ होकर 'संस्कार और संस्कार गीत' तथा 'वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष' तक पहली गति बनती है। उसके बाद 'अंतर्राष्ट्रीय मैथिली सम्मेलन', 'सगर राति दीप जरय' की कथागोष्ठी, 'वेब प्रोग्राम' और 'भाई राजनन्दन लाल दासजी की जीवन-यात्रा' के लेख सार्वजनिक साहित्यिक धरातल खोलते हैं। अंतिम भाग में तीन प्रश्नोत्तर और दो परिसंवाद लेखक की प्रत्यक्ष वाणी को सामने लाते हैं। यह क्रम दिखाता है कि पुस्तक का गठन केवल विषय की समानता पर नहीं, वैचारिक प्रगति की आंतरिक लय पर भी आधारित है। पहले भाग में जिज्ञासापरक चिंतन है, दूसरे में संस्कृति और समाज का धरातल, तीसरे में सार्वजनिक साहित्यिक सक्रियता, और अंतिम भाग में लेखक की प्रत्यक्ष वाणी। यह विन्यास 'पयस्विनी' को साधारण संकलन होने से बचाता है। अनुक्रम का यह नियोजन पाठक को बिखराव का अनुभव नहीं होने देता। वह क्रमशः एक वैचारिक धरातल से दूसरे धरातल तक बढ़ता जाता है। यहाँ विन्यास पाठक के मार्गदर्शक का काम करता है।

इस क्रम के भीतर एक प्रकार का आरोह भी दिखाई देता है। पुस्तक का क्रम दार्शनिक प्रश्न से शुरू होता है, अर्थात् विचार का मूल धरातल पहले बिछाया जाता है। उसके बाद लोक-संस्कृति, सामाजिक असमानता और वर्चस्व-विमर्श का क्षेत्र खुलता है। फिर सम्मेलन, गोष्ठी, वेब-प्रोग्राम और व्यक्तित्व-लेखन के माध्यम से साहित्य का सार्वजनिक जीवन उद्घाटित

होता है। अंत में प्रश्नोत्तर-परिसंवाद के माध्यम से लेखक स्वयं संवाद के केंद्र में आ जाते हैं। इस प्रकार 'पयस्विनी' का समग्र विन्यास विचार से समाज, समाज से सार्वजनिकता और सार्वजनिकता से आत्मदर्शी संवाद की ओर क्रमशः बढ़ता है।

इसी कारण यह कहना समीचीन होगा कि 'पयस्विनी' का विन्यास बहुध्वन्यात्मक होते हुए भी बिखरा हुआ नहीं है। जो पाठक पुस्तक को आरंभ से अंत तक पढ़ता है, वह अनुभव करता है कि लेखक अपने वैचारिक संसार के भिन्न-भिन्न कक्ष खोलता जाता है। प्रत्येक लेख स्वतंत्र है, पर उनके बीच अंतःसूत्र मौजूद है। यह अंतःसूत्र लेखक की तर्कशीलता, लोक-संबद्धता, सामाजिक पक्षधरता और संवादधर्मी चेतना से बँधा हुआ है। इसी कारण 'पयस्विनी' का स्थापत्य एक प्रकार का लचीला, पर संगठित बौद्धिक विन्यास है।

विधागत बहुरूपता: एक ही पुस्तक में अनेक गद्य-रूप

'पयस्विनी' की विधागत बहुरूपता उसके रचना-शिल्प को गतिशील बनाती है। वैचारिक निबंध में तर्क और प्रतिपक्ष प्रमुख हैं, सांस्कृतिक विवेचन में व्याख्या और ऐतिहासिक संदर्भ सक्रिय होते हैं, सार्वजनिक लेखन घटना को साहित्यिक-सामाजिक अर्थ देता है तथा प्रश्नोत्तर और परिसंवाद प्रत्यक्ष संवाद की स्थिति निर्मित करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक गद्य-रूप विषय की प्रकृति के अनुरूप अलग अभिव्यक्ति-पद्धति अपनाता है। विधाओं का यह कार्यगत विभाजन पुस्तक की विविधता को बिखराव बनने से रोकता है।

इस विधागत बहुरूपता को मण्डलजी की समग्र रचनाधर्मिता से जोड़कर देखना उपयोगी है। जगदीश प्रसाद मण्डलजी का लेखन कथा, उपन्यास, नाटक, पद्य, बाल-साहित्य, आत्मकथात्मक गद्य और शोध-आलेख तक फैला हुआ है। ऐसा रचनाकार जब एक गद्य-पुस्तक तैयार करता है, तो उसके भीतर अनेक गद्य-रूपों का स्वाभाविक सहअस्तित्व

दिखाई पड़ता है। इसलिए 'पयस्विनी' की विधागत बहुवचनता बोझ नहीं बनती, बल्कि उनके रचनात्मक स्वभाव का स्वाभाविक विस्तार लगती है। निबंध, प्रश्नोत्तर, परिसंवाद, सार्वजनिक टिप्पणी और व्यक्तित्व-स्मरण, ये सभी अलग-अलग खंड मात्र नहीं रह जाते, पुस्तक की वैचारिक संरचना में अपना-अपना जरूरी कार्य करते हैं।

प्रश्न-प्रधान शिल्प: विचार को गतिशील बनाने की कला

'पयस्विनी' के रचना-शिल्प में प्रश्न की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। विशेषतः 'अवतारवाद' में यह गुण अत्यंत प्रखर रूप में उपस्थित है। लेख आरंभिक परिभाषा से तुरंत प्रश्न के क्षेत्र में प्रवेश करता है। ईश्वर सर्वदयालु है तो हिंसा कैसे? सर्वव्यापक है तो आने-जाने की आवश्यकता क्या? छल, कपट, वध, दमन जैसी क्रियाओं को दैवी कर्म कैसे माना जाए? प्रश्नों का यह क्रम लेख को केवल जानकारीप्रधान निबंध बनकर नहीं रहने देता। वह पाठक को तर्क के प्रवाह में भीतर तक ले जाता है। यहाँ लेखक अपना कथन पाठक पर नहीं थोपता, बल्कि पहले शंका जगाता है, फिर परंपरागत आधारों की परीक्षा करता है।

प्रश्न-प्रधान शिल्प की एक विशिष्ट शक्ति यह है कि वह पाठक को निष्क्रिय स्वीकृति से बाहर निकाल देता है। यदि लेखक आरंभ में ही निष्कर्ष लिख देता, तो पाठक सहमत या असहमत होकर अलग-थलग पड़ जाता। लेकिन प्रश्नों की लगातार पुनरावृत्ति पाठक को सोचने के लिए बाध्य करती है। इस अर्थ में 'पयस्विनी' का रचना-शिल्प मूलतः विचारोत्तेजक है। यह पुस्तक पाठक को पढ़ने के साथ-साथ मनन करने के लिए प्रेरित करती है। यह गुण केवल 'अवतारवाद' लेख तक सीमित नहीं है, यह गुण संस्कार, भाषा, समाज, प्रतिनिधित्व और सार्वजनिकता संबंधी लेखों में भी भली-भाँति दिखाई पड़ता है।

व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक संरचना

'पयस्विनी' के रचना-शिल्प में प्रश्न की उपस्थिति महत्त्वपूर्ण अवश्य है, पर यह पुस्तक प्रश्नमालामय संरचना तक सीमित नहीं है। 'संस्कार और संस्कार गीत' में मण्डलजी पहले संस्कार का अर्थ स्पष्ट करते हैं। उसके बाद वे शास्त्रीय अवधारणा, सामाजिक प्रयोजन, जातिगत विविधता, व्यावहारिक भिन्नता, स्त्री की भागीदारी और मिथिला के सांस्कृतिक इतिहास तक क्रमशः बढ़ते जाते हैं। यह शिल्प अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यहाँ लेखक परिभाषा, उदाहरण, समाजशास्त्र, लोक-स्मृति और सांस्कृतिक निष्कर्ष को एक साथ बुनता है।

इस विश्लेषणात्मक पद्धति से पाठक भ्रमित नहीं होता। जटिल अवधारणा भी क्रमिक रूप से खुलती है। मण्डलजी अचानक निष्कर्ष पर नहीं कूदते। वे पहले सामग्री सजाते हैं, फिर उसकी व्याख्या करते हैं और उसका सामाजिक अर्थ निकालते हैं। यह शिल्प शोधोपयोगी लेखन की मूल अपेक्षा पूरी करता है। यहाँ भावुक सांस्कृतिक स्तुति नहीं, विश्लेषित सांस्कृतिक बोध उपस्थित है। इसलिए 'पयस्विनी' का रचना-शिल्प विचार को व्यवस्थित रूप से पाठक तक पहुँचाने में समर्थ है।

'वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष' शीर्षक लेख में 'पयस्विनी' की व्याख्यात्मक संरचना स्पष्ट दिखाई देती है। यह लेख ऐतिहासिक संकेत से आरंभ होता है। फिर भाषा-साहित्य का भेद, भाषिक विकास, समाज की वर्गीय दूरी, मैथिल समाज की आंतरिक असमानता, आरक्षण, स्त्री का प्रश्न, शिक्षण की संरचना, क्षेत्रीयता और लोकतंत्रीकरण के प्रसंग क्रमशः आते हैं। ये प्रसंग अलग-अलग टिप्पणियों के रूप में नहीं आते; मण्डलजी उन्हें एक साझा सामाजिक दृष्टि के भीतर संयोजित करते हैं। इसी कारण लेख में विचार की क्रमबद्धता, तर्क का विस्तार और सामाजिक सरोकार की स्पष्ट दिशा बनी रहती है। प्रस्तुत लेख व्याख्यानधर्मी अवश्य है, पर वह केवल सूचना या भाषण के स्तर पर सीमित नहीं रहता; अपनी वैचारिक सघनता और सामाजिक प्रतिबद्धता के कारण वह विचार-संपृक्त गद्य-रचना बन जाता है।

संवादात्मक विन्यास: एकालाप से बहस के क्षेत्र तक

'पयस्विनी' के रचना-शिल्प की एक विशिष्ट उपलब्धि उसका संवादात्मक विन्यास है। गजेन्द्र ठाकुरजी, मुन्नाजी और मुकेश दत्तजी के प्रश्नों के उत्तर तथा दो परिसंवाद स्पष्ट करते हैं कि यह पुस्तक मात्र एक लेखक का दीर्घ एकालाप नहीं है। उसके अंतिम भाग में बहस, प्रश्न, आत्मव्याख्या, प्रतिपुष्टि और सार्वजनिक बौद्धिक आदान-प्रदान का स्वर प्रवेश करता है। पुस्तक का यह शिल्पगत परिवर्तन अत्यंत अर्थपूर्ण है। उसका पहला भाग जहाँ विचार की स्थापना करता है, वहीं अंतिम भाग उस विचार को सार्वजनिक सवाल-जवाब की कसौटी पर रखता है। संवादात्मक विन्यास का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम विश्वसनीयता है। जब लेखक प्रश्नों के सामने उत्तर देता है, तब वह अपने विचार को पाठक की परीक्षा के लिए भी प्रस्तुत करता है। इससे 'पयस्विनी' में प्रतिपादित विचार सार्वजनिक तर्क-विनिमय के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

प्रश्नोत्तर का समावेश केवल सामग्री की वृद्धि नहीं है। इसके माध्यम से लेखक अपने विचार को जाँच के लिए प्रस्तुत करता है। प्रश्नकर्ता अलग-अलग दिशाओं से सवाल उठाते हैं। लेखक उत्तर देता है। इस प्रक्रिया में रचनाकार की आत्मदृष्टि, भाषा-निष्ठा, साहित्य-दर्शन, सामाजिक पक्षधरता, नवपीढ़ी के प्रति विश्वास और लोक-संबद्ध जीवन-दृष्टि प्रत्यक्ष रूप से सामने आती है। रचना-शिल्प की दृष्टि से देखा जाए तो यह विन्यास 'पयस्विनी' की विश्वसनीयता बढ़ाता है, क्योंकि पाठक लेखक की प्रत्यक्ष बौद्धिक उपस्थिति से साक्षात्कार करता है।

परिसंवाद का समावेश इस संवादात्मकता को और विकसित करता है। संवाद यहाँ जानकारी लेने की औपचारिक विधि तक सीमित नहीं रह जाता, चिंतन के आदान-प्रदान का माध्यम बन जाता है। जगदीश प्रसाद मण्डलजी प्रश्नों के लिए खुले हैं। वे असहमति से बचने का प्रयास नहीं करते। मैथिली साहित्य, समाज, भाषा, जनपक्ष, प्रतिनिधित्व, रचना-प्रक्रिया, नवपीढ़ी आदि के संबंध में वे अपना स्पष्ट मत रखते हैं। इस प्रकार का संवादात्मक शिल्प 'पयस्विनी' को जीवित पुस्तक बनाता है। इसी कारण

यह पुस्तक पढ़ने की वस्तु मात्र नहीं रह जाती, वार्तालाप आरंभ करने वाला पाठ बन जाती है।

सार्वजनिक लेखन का स्थापत्य: घटना से सांस्कृतिक अर्थ तक

'पयस्विनी' के रचना-शिल्प का एक महत्त्वपूर्ण आयाम सार्वजनिक जीवन से जुड़े लेखन में दिखाई देता है। लेखक सार्वजनिक घटना, गोष्ठी, डिजिटल संवाद या व्यक्तित्व-स्मरण को सामान्य विवरण भर नहीं रहने देते; वे उसे सांस्कृतिक अर्थ, भाषिक सेवा, सामूहिक स्मृति और साहित्यिक दायित्व से जोड़ देते हैं। अंतर्राष्ट्रीय मैथिली सम्मेलन, 'सगर राति दीप जरय', वेब प्रोग्राम और भाई राजनन्दन लाल दासजी की जीवन-यात्रा संबंधी लेखों में सूचना, स्मरण, मूल्यांकन और सांस्कृतिक चिंता एक साथ चलती है। इस दृष्टि से 'पयस्विनी' में सार्वजनिक लेखन रिपोर्टिंग न रहकर मूल्यांकनात्मक और अभिलेखीय गद्य का रूप ग्रहण करता है।

इस शिल्प की विशेषता यह है कि घटना समाप्त होने के बाद भी उसकी सांस्कृतिक ऊर्जा पाठ में सुरक्षित रहती है। लेखक आयोजन के बाहरी विवरण में नहीं अटकता; वह उसके भाषिक, सामाजिक और सामूहिक अर्थ को पहचानता है। फलस्वरूप ये लेख मैथिली के सार्वजनिक साहित्यिक जीवन की स्मृति-संरक्षण का काम करते हैं और 'पयस्विनी' को साहित्य के परिवेश, प्रक्रिया और संवाद का दस्तावेज बनाते हैं।

यहाँ मूल बात सार्वजनिक सामग्री की उपस्थिति नहीं, उसका रचनात्मक रूपांतरण है। घटना, संस्मरण और व्यक्तित्व-चिंतन लेखक के हाथ में साहित्यिक शिल्प का अंग बन जाते हैं। इसी कारण 'पयस्विनी' सार्वजनिक जीवन को मात्र दर्ज नहीं करती; उसके सांस्कृतिक आशय को गद्यात्मक रूप में व्यवस्थित भी करती है।

लोकधर्मी अभिव्यक्ति-कौशल

यद्यपि भाषा-शैली पर अलग अध्याय मौजूद है, फिर भी रचना-शिल्प

की दृष्टि से 'पयस्विनी' की अभिव्यक्ति के कौशल का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष उसकी लोकधर्मिता है। जगदीश प्रसाद मण्डलजी कठिन विचार को जीवन-जगत के परिचित उदाहरण, लोक-ध्वनि, व्यावहारिक संदर्भ, संस्कारगत दृश्य, सामाजिक मुहावरे और जनभाषिक सादगी के सहारे अभिव्यक्त करते हैं। इसी कारण उनका गद्य बौद्धिक होते हुए भी पाठक से कटता नहीं है। वह अभिजन-पाठक के लिए आरक्षित पाठ नहीं रह जाता, जन-संबद्ध बौद्धिक गद्य के रूप में विकसित होता है। मण्डलजी की भाषा-शैली के संबंध में जो "लोकभाषा-आधारित संवादात्मकता" कही गई है, वह रचना-शिल्प के धरातल पर विशेष अर्थ ग्रहण करती है। उनकी लोकधर्मी अभिव्यक्ति केवल सादगी नहीं, जटिल विचार को जीवन-सन्निकट, बोधगम्य और प्रभावी रूप में विन्यस्त करने की सृजनात्मक कला है। इसी गुण के कारण 'पयस्विनी' का गद्य विचारप्रधान होते हुए भी आत्मीय, सहज और पाठकीय प्रभाव से संपन्न बन उठता है।

लोकधर्मी अभिव्यक्ति-कौशल का एक महत्त्वपूर्ण लाभ यह होता है कि मण्डलजी के लेखन में बौद्धिक तनाव और मानवीय निकटता, दोनों साथ चलते हैं। वे यदि आरक्षण, हाशिया, संस्कार, अवतारवाद या भाषिक वर्चस्व जैसे गंभीर विषयों पर लिखते हैं, तो पाठक पर बोझ नहीं रखते। वे विचार को जीवित अनुभव का रूप देते हैं। इस कौशल के कारण 'पयस्विनी' के लेख पठनीयता और विचारोत्तेजना, दोनों को बचाए रखते हैं।

अंतःसंगति: विविधता के बीच एकसूत्रता

'पयस्विनी' की अंतःसंगति केवल विषयों की समानता से निर्मित नहीं होती। अलग-अलग रचनाओं में प्रश्न उठाने की प्रवृत्ति, लोकजीवन को मूल्यांकन का आधार बनाने वाली दृष्टि, सामाजिक असमानता के प्रति असहमति और संवाद के प्रति खुलापन बार-बार सक्रिय होते हैं। यही आवर्ती वैचारिक प्रवृत्तियाँ स्वतंत्र लेखों के बीच संबंध स्थापित करती हैं।

फलतः विधा और प्रसंग बदलने पर भी पुस्तक का मूल वैचारिक स्वर विच्छिन्न नहीं होता।

पाठकीय प्रभाव: सहभागितामूलक गद्य

'पयस्विनी' का रचना-शिल्प पाठक पर विशेष प्रकार का प्रभाव छोड़ता है। यह पुस्तक पाठक को केवल सूचना नहीं देती, उसे वैचारिक सहभागिता की स्थिति में ले जाती है। प्रश्नोन्मुख लेख पाठक को सोचने के लिए बाध्य करता है, सांस्कृतिक विवेचन उसे परंपरा के पुनरावलोकन के लिए प्रेरित करता है, और सामाजिक प्रतिरोधधर्मी लेख असमानता के संरचनात्मक रूप को समझने की दृष्टि प्रदान करता है। इतना ही नहीं, प्रश्नोत्तर और परिसंवाद के माध्यम से पाठक लेखक की प्रत्यक्ष बौद्धिक उपस्थिति से भी परिचित होता है। इस प्रकार पाठक यहाँ मात्र ग्रहणकर्ता नहीं रह जाता, सहचिंतक बन जाता है। इसलिए 'पयस्विनी' पाठक से निष्क्रिय स्वीकृति की अपेक्षा नहीं करती; यह सक्रिय मनन, पुनर्विचार और आत्मपरीक्षण की माँग करती है।

गद्य-शिल्प की प्रभावोत्पादकता इस बात में भी निहित है कि 'पयस्विनी' पाठक को एक ही भावावस्था में स्थिर नहीं रखती। यह कहीं शंका उत्पन्न करती है, कहीं सांस्कृतिक आत्मचिंतन जगाती है, कहीं सामाजिक बेचैनी पैदा करती है, तो कहीं साहित्यिक आत्मालोचन और रचनाकार के साथ आत्मीय संवाद का अनुभव कराती है। इन भिन्न-भिन्न पाठकीय अवस्थाओं से समझ में आता है कि 'पयस्विनी' का रचना-शिल्प केवल सामग्री का विन्यास नहीं, बल्कि पाठक की चेतना को क्रमशः सक्रिय, सजग और संवेदनशील बनाने वाली परिपक्व सृजनात्मक संरचना है।

समेकित निष्कर्ष

इस अध्याय के समग्र विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'पयस्विनी' का रचना-शिल्प उसकी विविध सामग्री को संरचनात्मक एकता प्रदान करता है। स्वतंत्र रूप से लिखे गए लेख, आयोजन-वृत्त, व्यक्तित्व-स्मरण, प्रश्नोत्तर और परिसंवाद अपने अभिव्यक्ति-रूप में भिन्न हैं, फिर भी उनके बीच

विषयगत संक्रमण और वैचारिक संबंध बने रहते हैं। पाठक कभी विश्लेषणात्मक विवेचन, कभी सांस्कृतिक अभिलेखन और कभी प्रत्यक्ष संवाद से गुजरता है। अभिव्यक्ति-रूपों का यह परिवर्तन पुस्तक को गतिशील बनाता है और उसके बहुविध गद्य को बिखरने से बचाता है।

इसकी विधागत बहुरूपता पुस्तक की संरचनात्मक शक्ति है। वैचारिक निबंध, सांस्कृतिक विवेचन, सामाजिक प्रतिरोधधर्मी लेखन, सार्वजनिक लेख, व्यक्तित्व-आधारित रचना, प्रश्नोत्तर और परिसंवाद, ये सभी मिलकर एक व्यापक गद्य-संसार का निर्माण करते हैं। प्रश्न-प्रधान शिल्प पाठक को मननशील बनाता है। व्याख्यात्मक-विश्लेषणात्मक संरचना जटिल विषयों को क्रमबद्ध रूप से उद्घाटित करती है। संवादात्मक विन्यास पुस्तक को जीवित बौद्धिक क्षेत्र में रूपांतरित करता है। सार्वजनिक लेखन घटनाओं को सांस्कृतिक अर्थवत्ता प्रदान करता है। लोकधर्मी अभिव्यक्ति-कौशल कठिन विषयों को जीवन-सन्निकट, बोधगम्य और प्रभावी बनाता है। अंतःसंगति विविधता के भीतर एकसूत्रता स्थापित करती है। इन सभी तत्त्वों के कारण ‘पयस्विनी’ में सामग्री का विस्तार और शिल्प का अनुशासन परस्पर समर्थित रूप में उपस्थित होते हैं।

इस आधार पर यह कहना समीचीन होगा कि ‘पयस्विनी’ को केवल विषयगत दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कह देना पर्याप्त नहीं है। रचना-शिल्प की दृष्टि से भी यह आधुनिक मैथिली गद्य की उल्लेखनीय, सुसंगठित और विशिष्ट कृति है। इसे पढ़ते समय पाठक केवल विचार के विस्तार से प्रभावित नहीं होता, नियंत्रित विन्यास, संतुलित अभिव्यक्ति, तर्कपूर्ण प्रस्तुति और परिपक्व गद्य-शिल्प का अनुभव भी करता है। इस अर्थ में ‘पयस्विनी’ आधुनिक मैथिली गद्य-लेखन में ऐसी कृति के रूप में प्रतिष्ठित होती है, जो विचार, शिल्प, विन्यास और अभिव्यक्ति, चारों स्तरों पर समान रूप से अध्ययनयोग्य है। ❑

जगदीश प्रसाद मण्डलजी की समग्र रचनाधर्मिता में पयस्विनी का स्थान

✳

जगदीश प्रसाद मण्डलजी की समग्र रचनाधर्मिता व्यापक, बहुविध और निरन्तर सक्रिय साहित्यिक साधना का प्रमाण है। जीवन-वृत्त के अनुसार उनका नियमित लेखन सन् 2000 से संगठित रूप में आरम्भ हुआ, पर इससे पहले का उनका जीवन निष्क्रियता अथवा एकान्त में नहीं बीता। वह प्रत्यक्ष सामाजिक सक्रियता, जनपक्षधर चेतना, संघर्षशील व्यवहार और परिवर्तनकामी दृष्टि से निर्मित हुआ था। रचनाकार मण्डलजी पुस्तक के पृष्ठों पर अचानक उपस्थित नहीं हुए। उनकी चेतना पहले गाँव की सामाजिक संरचना, किसान-मजदूर की कठिनाइयों, जातीय-वर्गीय तनावों, लोक-व्यवहार की जटिलताओं और सामाजिक न्याय के संघर्ष से गुजरी; बाद में उन्हीं अनुभवों ने साहित्यिक अभिव्यक्ति ग्रहण की।

मण्डलजी का जन्म 5 जुलाई 1947 को भारत की स्वतंत्रता से ठीक पहले के संक्रमणशील समय में हुआ। उनका बाल्यकाल मिथिला के ऐसे ग्रामीण परिवेश में बीता, जहाँ कृषिजन्य जीवन, संयुक्त परिवार, सामुदायिक सहयोग और पारिवारिक उत्तरदायित्व के साथ आर्थिक विषमता, जातीय दूरी, भूमि-संबंधी तनाव और सामंती प्रभाव भी सक्रिय थे। पिता के असामयिक निधन के बाद संयुक्त परिवार ने उन्हें संरक्षण और सामाजिक संबल दिया। इसी पारिवारिक तथा सामाजिक परिवेश में उन्हें श्रमजीवी वर्ग की कठिन स्थितियों, ग्रामीण शक्ति-संरचना और समाज की भीतरी असमानताओं को निकट से समझने का अवसर मिला। इसीलिए उनके साहित्य का ग्राम्य यथार्थ बाहरी निरीक्षण से निर्मित चित्र नहीं, जीवन के भीतर से अर्जित अनुभव की प्रामाणिक अभिव्यक्ति है।

शिक्षा के दौरान वे केवल विद्यालय और महाविद्यालय के विद्यार्थी नहीं रहे, बल्कि अपने समय की सामाजिक-राजनीतिक हलचलों से भी सक्रिय रूप से जुड़े। सन् 1967 का जन-जागरण, ग्रामीण राजनीति, किसान-बँटेदारों के प्रश्न और न्याय-अन्याय के संघर्ष ने उनके वैचारिक निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। हिंदी और राजनीति शास्त्र में स्नातकोत्तर अध्ययन के बाद वे अध्यापन अथवा नौकरी की सुरक्षित राह चुन सकते थे, पर उन्होंने समाज के बीच रहकर कार्य करने का कठिन मार्ग स्वीकार किया। लगभग छत्तीस वर्षों तक वे सामाजिक रूढ़ियों, अंधविश्वास, सामंती दबाव, जातीय वर्चस्व, शोषण और ग्राम्य अन्याय के विरुद्ध सक्रिय रहे। इस क्रम में उन्हें मुकदमों, वारंटों, कारावास और सामाजिक विरोध जैसी कठिन स्थितियों का सामना करना पड़ा। इन अनुभवों ने उनके सामाजिक न्याय-बोध को वैचारिक दृढ़ता प्रदान की।

इसी जीवनभूमि के कारण उनके कथा-साहित्य, उपन्यासों, नाटकों और वैचारिक लेखन में उपस्थित पीड़ा, असमानता, ग्राम्य शोषण, जातीय-वर्गीय तनाव और उपेक्षित समुदायों का संघर्ष दूर से देखा हुआ विषय नहीं लगता। यह उनके द्वारा जिए, समझे और परखे गए यथार्थ से उपजा है। उनके साहित्य में प्रतिरोध बाहर से आरोपित विचार के रूप में नहीं, जीवनानुभव से अर्जित नैतिक चेतना के रूप में सामने आता है। उनके व्यक्तित्व में विचार, कथन और कर्म के बीच विद्यमान संगति ही उनकी रचनाओं को प्रामाणिक सामाजिक आधार प्रदान करती है।

सन् 2000 के बाद उनकी साहित्यिक साधना अधिक संगठित और व्यापक हुई। कथा, उपन्यास, नाटक, एकांकी, पद्य, बाल-साहित्य, आत्मकथात्मक गद्य, वैचारिक लेख, शोधपरक आलेख और सांस्कृतिक टिप्पणियों तक उनका सृजन-क्षेत्र निरन्तर विस्तृत होता गया। उनके विपुल कृतित्व का महत्त्व केवल रचनाओं की संख्या में नहीं, बल्कि मिथिला के लोकजीवन, श्रम-संस्कृति, पारिवारिक संबंधों, स्त्री-चेतना, दलित-बोध, उपेक्षित समुदायों की पीड़ा, नैतिक मूल्यों के संकट और बदलती ग्राम्य संरचना की बहुआयामी अभिव्यक्ति में निहित है। अतः उनके साहित्य का

सम्यक् मूल्यांकन जीवन-संघर्ष, सामाजिक पक्षधरता, ग्रामीण समाज से जीवित संपर्क और लोकहित के प्रति उनकी दीर्घ प्रतिबद्धता को ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है।

इसी जीवनगत और रचनात्मक परिप्रेक्ष्य में 'पयस्विनी' का स्थान विशेष महत्त्व ग्रहण करता है। मण्डलजी की कथा, उपन्यास, नाटक और अन्य सर्जनात्मक विधाओं में जो जीवन-दृष्टि पात्रों, प्रसंगों और सामाजिक स्थितियों के माध्यम से व्यक्त होती है, वह 'पयस्विनी' में प्रत्यक्ष वैचारिक अभिव्यक्ति प्राप्त करती है। यह पुस्तक उनके लोक-बोध, सामाजिक दृष्टि, सांस्कृतिक विवेक और मानवीय प्रतिबद्धता के बीच विद्यमान संबंध को स्पष्ट करती है। इस अर्थ में 'पयस्विनी' उनके रचना-संसार का केवल पूरक पाठ नहीं, उसकी वैचारिक अंतर्धारा को समझने वाली महत्त्वपूर्ण व्याख्यात्मक कृति है।

मण्डलजी का कथा-साहित्य उनके रचना-संसार का अत्यंत सशक्त आधार है। इन कथाओं में गाँव के साधारण लगने वाले पात्र असाधारण मानवीय गरिमा लेकर उपस्थित होते हैं। किसान, मजदूर, वृद्ध, विधवा, परित्यक्ता स्त्री, संघर्षशील बेटी, मौन गृहिणी, लोकसेवी दादी, असहाय बालक, बेरोजगार युवा और समाज से किनारे कर दिए गए लोग उनके साहित्य के केंद्र में आ जाते हैं। वे पात्रों को दया या करुणा की वस्तु बनाकर नहीं देखते; उनके भीतर के संघर्ष, विवेक, आत्मसम्मान, जीवन-शक्ति और सामाजिक अर्थ को पहचानते हैं। इस दृष्टि से उनका कथा-साहित्य लोकजीवन की सामाजिक पंजी भी है और मानवीय चेतना की रचनात्मक व्याख्या भी। इन रचनाओं की विशेषता यह है कि वे उपेक्षित लोगों को साहित्य की परिधि से उठाकर केंद्र में स्थापित करती हैं। यहाँ मौन पात्र बोलते हैं, दबा हुआ जीवन अपनी गरिमा पाता है और ग्राम्य यथार्थ दृश्य भर नहीं रह जाता, मानवीय संवेदना का प्रश्न बन जाता है।

उनकी औपन्यासिक कृतियाँ और व्यापक धरातल ग्रहण करती हैं। उनमें परिवार, समाज, भूमि-संबंध, जातीय संरचना, परंपरा, परिवर्तन, शिक्षा, आर्थिक संकट, स्त्री की स्थिति, पीढ़ीगत अंतर, ग्रामीण नेतृत्व,

सामुदायिक संबंध और ऐतिहासिक चेतना की जटिल बुनावट विस्तार पाती है। यही कारण है कि उनका औपन्यासिक साहित्य मिथिला के ग्रामीण समाज के जीवन-इतिहास की तरह पढ़ा जा सकता है। इन उपन्यासों में इतिहास राजकीय वृत्तांत के रूप में नहीं, परिवार, खेत, गाँव, श्रम, संबंध, स्त्री-जीवन और सामुदायिक स्मृति के भीतर से बनता-बदलता दिखाई देता है। मण्डलजी के उपन्यास ग्रामीण जीवन का बाहरी विवरण भर प्रस्तुत नहीं करते। वे गाँव की सामाजिक संरचना, मानवीय संबंधों के तनाव, आर्थिक विषमता, परंपरा और परिवर्तन के टकराव तथा लोकजीवन की भीतरी गतिविधियों को कथात्मक रूप में उद्घाटित करते हैं। इसी कारण उनकी औपन्यासिक कृतियों को मिथिला के समाज, संस्कृति और जनजीवन के दीर्घ अनुभव से निर्मित साहित्यिक दस्तावेज के रूप में देखा जा सकता है।

नाटक और एकांकी में उनकी संवादधर्मी प्रतिभा विशेष रूप से सामने आई है। जनभाषा, सहज कथन-शैली, कथोपकथन की स्वाभाविकता और पात्रानुकूल भाषा उनकी नाटकीय रचनाओं को जीवंत बनाती है। नाटक में सामाजिक प्रश्न प्रत्यक्ष संवाद के रूप में खुलते हैं। वहाँ विचार भाषण नहीं बनता, पात्रों के व्यवहार और कथोपकथन के भीतर से विकसित होता है। पद्य-संग्रहों में जीवनानुभव, प्रकृति-बोध, सामाजिक चिंता, सांस्कृतिक स्मृति और जनसरोकार की भावधारा व्यक्त हुई है। बाल-किशोर साहित्य के माध्यम से वे नई पीढ़ी तक संस्कार, श्रम, नैतिकता, संवेदना और सामाजिक चेतना का सरल रूप पहुँचाते हैं। इस प्रकार उनके साहित्य का विधागत विस्तार अलग-अलग दिशाओं में फैला अवश्य है, पर उसका भीतरी केंद्र लोकजीवन, मनुष्य की गरिमा, श्रम का मूल्य, सामाजिक न्याय और समाज की नैतिक पुनर्संरचना की चिंता है।

इस समग्र रचनात्मक परिप्रेक्ष्य के कारण 'पयस्विनी' के स्थान पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। यह पुस्तक मण्डलजी के साहित्यिक व्यक्तित्व के उस पक्ष को सामने लाती है, जो उनके सर्जनात्मक साहित्य के भीतर अंतर्निहित रहा है और 'पयस्विनी' में प्रत्यक्ष वैचारिक रूप ग्रहण करता है। शीर्षक-पृष्ठ और अनुक्रम से इसकी गद्यात्मक प्रकृति अवश्य स्पष्ट

होती है, पर इसका वास्तविक महत्त्व इस बात में निहित है कि यह मण्डलजी की समग्र रचनाधर्मिता के वैचारिक आधार को प्रत्यक्ष रूप से उद्घाटित करती है। कथा, उपन्यास, नाटक और पद्य में जीवन-दृष्टि पात्र, प्रसंग, परिवेश और संवेदना के माध्यम से व्यक्त होती है। 'पयस्विनी' में वही दृष्टि विचार, तर्क, सामाजिक प्रश्न, सांस्कृतिक विवेक और संवाद के रूप में प्रकट होती है। फलस्वरूप 'पयस्विनी' को केवल स्वतंत्र गद्य-पुस्तक नहीं, मण्डलजी के पूरे साहित्यिक व्यक्तित्व को समझने की महत्त्वपूर्ण कुंजी के रूप में देखना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक की संरचना स्वयं संकेत करती है कि मण्डलजी का चिंतन एकांगी नहीं है। यहाँ दार्शनिक प्रश्न, लोक-संस्कार, हाशिये का समाज, साहित्यिक-सांस्कृतिक सक्रियता, सार्वजनिक जीवन, आत्मव्याख्या और संवादपरक चेतना एक ही वैचारिक परिपथ में संगठित रूप से उपस्थित हैं। 'अवतारवाद' में वे धार्मिक अवधारणा और मिथकीय संरचना को तर्क की कसौटी पर परखते हैं। 'संस्कार और संस्कार गीत' में लोक-संस्कृति के भीतर निहित सामाजिक भाव, स्त्री की भूमिका, जातीय भिन्नता और मौखिक परंपरा का अर्थ खोजते हैं। 'वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष' में भाषा, साहित्य, सत्ता, वंचना और प्रतिनिधित्व का प्रश्न उठाते हैं। सम्मेलन, गोष्ठी, वेब-प्रोग्राम और जीवन-यात्रा से संबंधित लेख उनकी सार्वजनिक साहित्यिक सक्रियता को रेखांकित करते हैं। प्रश्नोत्तर और परिसंवाद में लेखक की आत्मदृष्टि, भाषा-बोध, साहित्यिक पीड़ा और सामाजिक पक्षधरता प्रत्यक्ष रूप में सामने आई है। इस प्रकार 'पयस्विनी' जगदीश प्रसाद मण्डलजी की समग्र रचनाधर्मिता में ऐसी कृति बनती है, जो सर्जनात्मक साहित्य के भीतर निहित विचार को स्पष्ट, विश्लेषित और प्रमाणित करती है।

मण्डलजी की समग्र रचनाधर्मिता में प्रस्तुत पुस्तक का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान इस रूप में भी देखा जा सकता है कि यहाँ चिंतक-मण्डलजी प्रत्यक्ष आत्मव्याख्याकार के रूप में सामने आए हैं। कथा, उपन्यास और नाटक में लेखक कई बार पात्र, प्रसंग, कथाविन्यास, प्रतीक

और संवाद के माध्यम से अपनी जीवन-दृष्टि प्रकट करते हैं। वहाँ उनके विचार कथा-परिस्थिति के भीतर घुले-मिले रहते हैं। पाठक उन्हें पात्रों के व्यवहार, घटनाक्रम, संघर्ष की स्थिति और कथोपकथन के अर्थ से ग्रहण करता है। पर इस वैचारिक पाठ में मण्डलजी अपने प्रत्यक्ष स्वर में बोलते हैं। यहाँ लेखक का विचार पात्रों के होंठों से व्यक्त नहीं हुआ है। यहाँ लेखक की अपनी वैचारिक चेतना उनके अपने मुख से निकलकर पाठक के सामने उपस्थित हुई है। इसी कारण 'पयस्विनी' को उनके रचनात्मक संसार की वैचारिक कुंजी कहा जा सकता है।

'अवतारवाद' शीर्षक आलेख में जगदीश प्रसाद मण्डलजी धार्मिक मिथक, अवतार-कल्पना और परंपरागत मान्यता को तर्क की कसौटी पर परखकर विचार करते हैं। वे श्रद्धा की भावभूमि को नकारते नहीं, पर उसे विवेक, इतिहास-बोध और मानवीय प्रश्नों के आलोक में देखने का आग्रह करते हैं। 'संस्कार और संस्कार गीत' में लोक-संस्कृति की सामाजिक संरचना, स्त्री की सांस्कृतिक भूमिका, जातिगत भिन्नता, लोकगीत की मौखिक परंपरा और संस्कार के सामुदायिक अर्थ का विश्लेषण मिलता है। 'वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष' में वंचित समाज के प्रतिनिधित्व का प्रश्न भाषा-साहित्य के धरातल से उठकर लोकतंत्रीकरण की व्यापक माँग में बदल जाता है। इसलिए सत्ता, समाज और संस्कृति तीव्र आलोचनात्मक प्रसंग बनकर उद्घाटित होते हैं। इन लेखों से समझ में आता है कि 'पयस्विनी' में मण्डलजी जीवन के प्रश्न को भावात्मक स्तर तक सीमित नहीं रखते, उसे तर्कपूर्ण, विश्लेषणात्मक और सामाजिक अर्थ-संरचना के स्तर पर उठाते हैं।

इस संदर्भ में 'पयस्विनी' सर्जक मण्डलजी और विचारक मण्डलजी के अंतरंग संबंध को समझने के लिए अनिवार्य कृति बन जाती है। उनका कथा-लेखन ग्रामीण समाज, श्रमशील जीवन, किसान, वंचित लोक, सामाजिक विषमता और नैतिक संघर्ष की कथा कहता है। उपन्यासों में वे व्यापक सामाजिक संरचना, भूमि-संबंध, परिवार, जातीयता, शिक्षा, आर्थिक संकट और परिवर्तन की जटिल प्रक्रिया को कथात्मक विस्तार देते

हैं। नाटक में लोकभाषा और संवाद के माध्यम से समाज के भीतरी तनावों को दृश्य रूप में उपस्थित करते हैं। 'पयस्विनी' इन सभी रचनात्मक प्रवृत्तियों के वैचारिक आधार को स्पष्ट करती है। यहाँ मण्डलजी जीवन के प्रश्न को कथा-घटना के रूप में नहीं, विश्लेषण के विषय के रूप में सामने लाते हैं। वे अपने विचार के प्रस्थान-बिंदु स्पष्ट करते हैं, प्रश्न के सामाजिक आधार को पहचानते हैं और निष्कर्ष तक पहुँचने का बौद्धिक साहस दिखाते हैं। इसलिए यह कृति उनके रचनात्मक साहित्य की भीतरी चिंतनधारा को अलग प्रकाश में देखने का अवसर देती है।

मण्डलजी का साहित्यिक दर्शन प्रतिबद्धता, मौन पीड़ा को स्वर देने की इच्छा और साहित्य को जन-संवाद का सजग दस्तावेज बनाने के आग्रह पर आधारित है। 'पयस्विनी' में इस दर्शन का व्यावहारिक रूप स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। यहाँ लेखक अपने कथा-पात्रों के मुख से नहीं बोलते; वे स्वयं अपना पक्ष, प्रश्न, असहमति और निष्कर्ष व्यक्त करते हैं। उनके रचनात्मक साहित्य में जो पीड़ा, प्रतिरोध, लोकधर्मिता, भाषा-बोध और सामाजिक न्याय-चेतना आंतरिक रूप से सक्रिय है, 'पयस्विनी' में वही प्रत्यक्ष वैचारिक रूप ग्रहण करती है। यही कारण है कि यह पुस्तक उनके वैचारिक स्वर से प्रत्यक्ष साक्षात्कार का अवसर प्रदान करती है।

मण्डलजी की समग्र रचनाधर्मिता में प्रस्तुत पुस्तक का दूसरा विशिष्ट स्थान यह है कि यह उनके लोकधर्मी साहित्य को आलोचनात्मक स्वर प्रदान करती है। कथासाहित्य लोक को जीता हुआ दिखाता है; 'पयस्विनी' लोकजीवन की संरचना, अर्थ, विडंबना और संघर्ष की विवेचना करती है। कथा में किसान की पीड़ा, मजदूर का श्रम, स्त्री का मौन संघर्ष, दलित-वंचित लोगों का अपमान, बेरोजगार युवक का संकट, वृद्धजन की उपेक्षा और ग्राम्य समाज के नैतिक द्वंद्व आदि आए हैं। 'पयस्विनी' उन अनुभवों को तर्क, विमर्श और वैचारिक पृष्ठभूमि प्रदान करती है। जो रचनाकार कथा में लोकजीवन की धड़कन सुनाते हैं, वे इस पुस्तक में लोकजीवन की सांस्कृतिक संरचना, भाषा-विचार, मिथकीय दबाव, सामाजिक वर्चस्व और संस्थागत जड़ता पर विचार करते हैं। इस प्रकार 'पयस्विनी' उनकी

रचनात्मक लोकधर्मिता को विवेकपूर्ण आलोचनात्मक आधार प्रदान करती है। इस पुस्तक को पढ़े बिना उनके कथा-संसार के गहरे वैचारिक स्रोत को पूर्ण रूप से पकड़ना कठिन हो सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि यह मण्डलजी के सार्वजनिक साहित्यिक जीवन का अभिलेखीय दस्तावेज बनती है। 'अंतर्राष्ट्रीय मैथिली सम्मेलन', 'सगर राति दीप जरय' की 100वीं कथागोष्ठी के संबंध में, 'वेब प्रोग्राम' और 'भाई राजनन्दन लाल दासजी की जीवन-यात्रा' जैसे लेख इस बात के प्रमाण हैं कि उनकी साहित्यिक सक्रियता एकांत लेखन तक सीमित नहीं रही। वे मंच, गोष्ठी, सम्मेलन, पत्रिका, डिजिटल संवाद और सांस्कृतिक आयोजनों में सक्रिय रहते हैं। उनके लिए साहित्य कोठरी में बैठकर लिखा गया पाठ नहीं, समाज के बीच संवाद स्थापित करने का माध्यम है। 'सगर राति दीप जरय' जैसी साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधि से उनकी दीर्घ संबद्धता इस बात को और पुष्ट करती है कि वे साहित्य को जन-संबंध, सहभागिता और सामूहिक चेतना का क्षेत्र मानते हैं। इस आधार पर 'पयस्विनी' को मण्डलजी के सार्वजनिक साहित्यिक कर्म का संगृहीत रूप भी कहा जा सकता है। यह कृति लेखक के रचना-संसार और उनकी सांस्कृतिक उपस्थिति के बीच सेतु के रूप में खड़ी है।

प्रश्नोत्तर और परिसंवाद मण्डलजी के आत्मीय, विनम्र और संवादशील व्यक्तित्व को प्रत्यक्ष रूप में सामने लाते हैं। इन अंशों में उनकी भाषा-निष्ठा, लोक-संबद्धता, नवपीढ़ी के प्रति विश्वास और उपेक्षित समाज के प्रति प्रतिबद्धता स्पष्ट होती है। विशेषतः साहित्यिक प्रतिनिधित्व के असंतुलन पर किया गया उनका आत्मालोचन उन्हें सामाजिक उत्तरदायित्व से युक्त सजग रचनाकार के रूप में स्थापित करता है।

भाषा-शैली के स्तर पर भी 'पयस्विनी' मण्डलजी की रचनाधर्मिता में विशिष्ट स्थान रखती है। उनकी भाषा लोक-व्यवहार से उपजी हुई, संवादधर्मी, जीवंत और सहज अभिव्यक्तिमूलक है। कथा-साहित्य से लेकर वैचारिक गद्य तक उनकी भाषा जीवन से कटती नहीं है। 'पयस्विनी' इस

भाषिक विशेषता का प्रौढ़ उदाहरण प्रस्तुत करती है। यहाँ विचार गूढ़ है, पर भाषा दुरूह नहीं। शास्त्रीय संदर्भ है, पर गद्य बोझिल नहीं। सामाजिक प्रश्न गंभीर है, पर अभिव्यक्ति जीवनानुभव से जुड़ी हुई है। इतना ही नहीं, यहाँ लोकभाषिक प्रवाह और वैचारिक स्पष्टता साथ-साथ चलते हैं। इसी कारण 'पयस्विनी' जगदीश प्रसाद मण्डलजी की समग्र रचनाधर्मिता में भाषा-संस्कार की द्योतक पुस्तक मानी जा सकती है। कथा-साहित्य में जो लोकबोली-आधारित संवाद-शक्ति मिलती है, यहाँ वही आलोचनात्मक गद्यरूप ग्रहण करती है। इस दृष्टि से 'पयस्विनी' उनके भाषिक व्यक्तित्व के परिपक्व रूप की प्रतिनिधि कृति है।

मण्डलजी की समग्र रचनाधर्मिता में 'पयस्विनी' का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष सांस्कृतिक चेतना के स्तर पर देखा जा सकता है। उनका साहित्य मिट्टी-पानी, लोक-वेद, किसानी जीवन, स्त्री की संवेदना, परंपरा और जनजीवन के भीतर से उपजा साहित्य है। उनकी रचनाओं में संस्कृति कोई स्थिर, सजावटी या बाहरी स्मृति के रूप में नहीं आती। वह जीवन के व्यवहार, श्रम, संबंध, लोकगीत, संस्कार, भाषा, स्त्री-अनुभव और सामुदायिक चेतना के भीतर से आकार ग्रहण करती है। 'पयस्विनी' इस सांस्कृतिक चेतना को वैचारिक रूप में व्याख्यायित करती है। 'संस्कार और संस्कार गीत' में मिथिला की संस्कार-व्यवस्था, लोकगीत, स्त्री की सांस्कृतिक भूमिका, लोकधर्म, जातिगत अंतर और मौखिक परंपरा का विवेचन इस बात का प्रमाण है कि मण्डलजी संस्कृति को गौरव-गान की वस्तु बनाकर छोड़ नहीं देते। वे उसकी भीतरी सामाजिक संरचना, लोकानुभव और मानवीय अर्थ को पकड़ने का प्रयास करते हैं।

'वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष' में संस्कृति और सत्ता का संबंध, भाषा-साहित्य का प्रतिनिधित्व, सामाजिक बहिष्कार और वंचित समाज का प्रश्न अधिक तीव्र रूप में सामने आता है। इस लेख में संस्कृति परंपरा की धरोहर भर नहीं रह जाती, सामाजिक शक्ति-संरचना का आलोचनात्मक क्षेत्र बन जाती है। मण्डलजी लोक-संस्कृति के भीतर वर्चस्व, बहिष्कार, जातिगत अंतर, स्त्री की स्थिति और भाषिक असमानता

के प्रश्न देखते हैं। इसी कारण 'पयस्विनी' में संस्कृति पर विचार स्वतः समाज-चिंतन में परिणत होता है। यहाँ सांस्कृतिक चेतना और सामाजिक प्रतिरोध दो अलग प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। दोनों एक-दूसरे को अर्थ देते हैं। सामाजिक प्रतिरोध सांस्कृतिक विवेक से जुड़ता है, और सांस्कृतिक विवेक जनपक्षधर दृष्टि का आधार बनता है। इस दृष्टि से 'पयस्विनी' उनकी समग्र रचनाधर्मिता में सांस्कृतिक आत्मचेतना के केंद्रीय ग्रंथ के रूप में प्रतिष्ठित होती है।

प्रस्तुत पुस्तक का सामाजिक महत्त्व यह भी है कि यह मण्डलजी की प्रतिरोध-चेतना का वैचारिक और मुखर रूप प्रस्तुत करती है। उनके जीवन-वृत्त से स्पष्ट होता है कि उनका जीवन केवल साहित्यिक तैयारी का जीवन नहीं रहा। वह सामाजिक रूढ़ि, अंधविश्वास, सामंती दबाव, पिछड़े वर्ग के संघर्ष, कृषक जीवन के कठिन यथार्थ और समाजसेवा के प्रत्यक्ष अनुभव से निर्मित जीवन रहा है। लगभग छत्तीस वर्ष की सामाजिक सक्रियता से उनके व्यक्तित्व को जो धरातल मिला, उस धरातल की वैचारिक प्रतिध्वनि 'पयस्विनी' में स्पष्ट सुनाई पड़ती है।

इस पुस्तक में हाशिये का समाज, भाषिक उपेक्षा, शिक्षण-संस्थाओं की जड़ता, लोकतंत्रीकरण का प्रश्न, स्त्री-शिक्षा, आरक्षण की विडंबना और सामाजिक दिशाहीनता के प्रसंग सामान्य टिप्पणी नहीं, सजग सामाजिक प्रतिपक्ष के रूप में उपस्थित हुए हैं। मण्डलजी इन विषयों को बाहरी दृष्टि से नहीं देखते। वे उन्हें जीवनानुभव, सामाजिक संघर्ष और लोकहित की चेतना से जोड़कर परखते हैं। फलस्वरूप 'पयस्विनी' में प्रतिरोध केवल विरोध की मुद्रा नहीं रह जाता, समाज की भीतरी संरचना में परिवर्तन लाने के वैचारिक आग्रह के रूप में प्रकट होता है।

मण्डलजी की कथा, उपन्यास और नाटक में समाज का दुःख, अन्याय और विसंगति कथात्मक रूप में आती है; 'पयस्विनी' में उस दुःख का कारण, उसका ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आधार और उसके विरुद्ध प्रतिरोध की वैचारिक दिशा समझ में आती है। इसलिए यह पुस्तक उनके सामाजिक संघर्ष के साहित्यिक विवेचनात्मक रूप की प्रतिनिधि कृति बनती

है। जो रचनाकार जीवन में समाज के पक्ष में खड़ा रहा, वह ‘पयस्विनी’ में विचार के स्तर पर भी वंचित, उपेक्षित और मौन समाज के प्रति अपनी पक्षधरता स्पष्ट करता है। यहाँ लेखक के सामाजिक कर्म और वैचारिक लेखन के बीच गहरा संबंध दिखाई देता है।

‘पयस्विनी’ मण्डलजी के रचना-संसार में सृजन और विचार के संधि-बिन्दु के रूप में उपस्थित है। उनके कथा-साहित्य में लोकजीवन अपने दु:ख, संघर्ष, संबंध, अभाव और आशा के साथ अनुभवगत रूप में सामने आता है; ‘पयस्विनी’ उसी जीवन के पीछे सक्रिय सामाजिक संरचनाओं, सांस्कृतिक दबावों, ऐतिहासिक प्रक्रियाओं और वैचारिक प्रश्नों का विश्लेषण करती है। इस प्रकार यह कृति लोकजीवन के चित्रण को उसके सामाजिक अर्थ से तथा रचनात्मक अनुभव को आलोचनात्मक विवेक से जोड़ती है। इसी विशेषता के कारण पुस्तक मण्डलजी के साहित्यक अनुभवात्मक और वैचारिक पक्षकेँ एक संग बुझबाक आधार प्रदान करैत अछि। इसी विशेषता के कारण यह पुस्तक मण्डलजी के साहित्य के अनुभवात्मक और वैचारिक पक्ष को एक साथ समझने का आधार प्रदान करती है।

‘पयस्विनी’ जगदीश प्रसाद मण्डलजी के साहित्य की आत्मपरक प्रामाणिकता को भी सिद्ध करती है। आलोचक उनके कथ्य, कर्म और जीवन-दृष्टि में जो एकरूपता देखते हैं, ‘पयस्विनी’ उस एकरूपता का पाठीय प्रमाण उपलब्ध कराती है। इस पुस्तक में लेखक जगदीश प्रसाद मण्डलजी जो सोचते हैं, उसका तर्क देते हैं; जो जीते हैं, उसके अनुभव का मूल्यांकन करते हैं; और जिस समाज के पक्ष में खड़े हैं, उसकी पक्षधरता स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं। इसलिए ‘पयस्विनी’ उनकी समग्र रचनाधर्मिता के सत्यापन-पाठ के रूप में महत्त्वपूर्ण ठहरती है। सत्यापन-पाठ इस अर्थ में कि यह पुस्तक उनकी कथा, उपन्यास, नाटक और सामाजिक जीवन में व्यक्त मूल मान्यताओं को वैचारिक आधार पर प्रमाणित करती है। यह उनके सर्जनात्मक संसार के आंतरिक नैतिक आधार को स्पष्ट करती है और दिखाती है कि उनकी साहित्यिक अभिव्यक्ति और जीवनगत प्रतिबद्धता एक-दूसरे से अलग नहीं, परस्पर संबद्ध हैं।

यह तथ्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि मण्डलजी के लेखन में विचार जीवन से अलग नहीं है। वे जो प्रश्न उठाते हैं, उसकी जड़ उनके अपने अनुभव, सामाजिक सक्रियता, ग्रामीण संबंध, लोकजीवन की निकटता और न्याय-बोध में निहित है। यही कारण है कि उनका वैचारिक गद्य शुष्क बौद्धिक अभ्यास नहीं बनता, जीवन-संघर्ष के ताप, संघर्ष की स्मृति और लोकचेतना की ऊष्मा से भरा रहता है। 'पयस्विनी' में मण्डलजी अपने समय, समाज, संस्कृति, भाषा, साहित्य और मनुष्य के प्रश्नों पर जो विचार करते हैं, वह उनके समग्र साहित्यिक व्यक्तित्व की आंतरिक सच्चाई को पुष्ट करता है। इस दृष्टि से 'पयस्विनी' उनके रचना-संसार के वैचारिक आधार, नैतिक प्रतिबद्धता और लोकपक्षधर चेतना को संगठित रूप में सामने लाती है।

शीर्षक के स्तर पर भी 'पयस्विनी' अपने सांकेतिक अर्थ में महत्त्वपूर्ण है। 'पयस्विनी' शब्द स्वयं जीवनदायिनी, पोषक और प्रवाहमयी चेतना का संकेत देता है। मण्डलजी के रचना-संसार में लोकजीवन, श्रम, सामाजिक संघर्ष, सांस्कृतिक स्मृति और न्याय-बोध की जो धारा प्रवाहित है, यह पुस्तक उसके वैचारिक प्रवाह को रूप देती है। जैसे पयस्विनी जीवन को सींचती है, उसी तरह यह पुस्तक उनकी कथा, उपन्यास, नाटक, पद्य और सामाजिक सक्रियता के भीतर निहित विचारधारा को पोषण देती है। इस अर्थ में शीर्षक और कृति-दृष्टि के बीच गहरा सामंजस्य दिखाई देता है।

इस अध्याय के समग्र विवेचन से स्पष्ट होता है कि मण्डलजी की रचनाधर्मिता में 'पयस्विनी' विशिष्ट, केंद्रीय और बहुआयामी स्थान रखती है। यह वैचारिक गद्य की स्वतंत्र कृति होते हुए भी उनके सर्जनात्मक साहित्य के आंतरिक दर्शन को उद्घाटित करती है। अतः 'पयस्विनी' को उनके रचना-संसार की सहायक पुस्तक कहकर छोड़ देना उचित नहीं होगा। उसे उनके समग्र साहित्यिक व्यक्तित्व, वैचारिक दिशा, सांस्कृतिक दृष्टि, भाषा-बोध, सामाजिक प्रतिरोध और जनपक्षधर प्रतिबद्धता को समझने के मूल आधारग्रंथ के रूप में स्वीकार करना अधिक समीचीन है।

इस पुस्तक में लोकधर्मी चेतना आलोचनात्मक रूप ग्रहण करती है,

सार्वजनिक साहित्यिक सक्रियता का अभिलेख सुरक्षित होता है, और प्रश्नोत्तर तथा परिसंवाद के माध्यम से लेखक की आत्मदृष्टि का प्रामाणिक स्रोत उपलब्ध होता है। भाषा, शैली, संस्कृति, समाज, प्रतिरोध और जनपक्षधर चेतना के प्रश्न यहाँ व्यापक वैचारिक संरचना में संयोजित हो उठते हैं। इन तमाम कारणों से 'पयस्विनी' मण्डलजी की कथा, उपन्यास, नाटक, पद्य-साहित्य और सामाजिक प्रतिबद्धता के भीतर सक्रिय वैचारिक ऊर्जा को समझने के लिए अनिवार्य कृति सिद्ध होती है।

समग्रतः 'पयस्विनी' का महत्त्व इस बात में है कि वह मण्डलजी की विभिन्न विधाओं में बिखरे मूल सरोकारों को एक संगठित वैचारिक धरातल प्रदान करती है। सामाजिक न्याय-बोध, सांस्कृतिक विवेक, लोकजीवन से आत्मीय संबंध और मानवीय गरिमा की चेतना यहाँ प्रत्यक्ष विचार का रूप ग्रहण करती है। इसके आधार पर उनके साहित्य की नैतिक सुसंगति, सामाजिक अर्थवत्ता और जीवनगत प्रतिबद्धता का अधिक सम्यक् मूल्यांकन संभव होता है। इस दृष्टि से 'पयस्विनी' उनकी समग्र रचनाधर्मिता के अध्ययन की एक आवश्यक वैचारिक कृति सिद्ध होती है। ❑

उपसंहार

✳

संरचना की दृष्टि से 'पयस्विनी' वैचारिक आलेख, सांस्कृतिक विवेचन, सार्वजनिक लेखन, व्यक्तित्व-स्मरण, प्रश्नोत्तर और परिसंवाद जैसे भिन्न गद्य-रूपों को एक ही पुस्तक में समाहित करती है। इस बहुविध विन्यास के भीतर मण्डलजी की तर्कशीलता, लोक-संबद्धता, सांस्कृतिक सजगता, सामाजिक न्याय-बोध और संवादधर्मिता निरन्तर सक्रिय रहती है। फलतः पुस्तक विधागत रूप से बहुस्तरीय होते हुए भी वैचारिक स्तर पर संगठित बनी रहती है।

प्रस्तुत अध्ययन मण्डलजी के साहित्यिक व्यक्तित्व को केवल विधागत परिचयों तक सीमित नहीं रखता। उनके साहित्य के केन्द्र में किसानी जीवन, सामाजिक विषमता, वंचित समुदाय का संघर्ष, स्त्री-अनुभव, ग्राम्य यथार्थ, लोकभाषा और सांस्कृतिक अस्मिता के प्रश्न सक्रिय हैं। इन सरोकारों के कारण वे लोकजीवन के भीतर से विकसित चिंतक-रचनाकार के रूप में सामने आते हैं। 'पयस्विनी' उनके व्यक्तित्व के इसी वैचारिक पक्ष को प्रत्यक्ष रूप से पहचानने का आधार देती है।

दार्शनिक धरातल पर प्रस्तुत पुस्तक का पहला महत्त्व इस बात में निहित है कि इसका लेखक परंपरागत मान्यता को अंधस्वीकार के आधार पर नहीं, विवेक की कसौटी पर परखता है। 'अवतारवाद' शीर्षक लेख में मण्डलजी मिथकीय संरचना को शास्त्रीय संदर्भ, नैतिक तर्क और मानवीय विवेक के आलोक में जाँचते हैं। यह प्रश्नोन्मुखता उनके चिंतन के मूल स्वभाव को सूचित करती है। वे ईश्वर, अवतार, हिंसा, छल, दया, शक्ति और मनुष्य के स्थान जैसे जटिल प्रश्नों पर स्पष्ट विचार करते हैं। इस संदर्भ में

उनका निष्कर्ष मानव-केंद्रित नैतिक चेतना की ओर अग्रसर होता है।

'पयस्विनी' में दार्शनिक प्रतिरोध केवल धार्मिक मान्यताओं की आलोचना तक सीमित नहीं रहता, बल्कि मनुष्य की गरिमा, नैतिक स्वायत्तता और आत्मनिर्भर विवेक के पक्ष में विकसित होता है। यह प्रतिरोध मनुष्य को प्रतीक्षा, भय और पराश्रय से बाहर निकालकर विवेक, आत्मबल और सामाजिक उत्तरदायित्व के धरातल पर खड़ा करता है। इसलिए 'अवतारवाद' का प्रश्न अंततः दैवी हस्तक्षेप की अस्वीकृति मात्र नहीं, मनुष्य की सक्रिय नैतिक उपस्थिति के पक्ष में विकसित विचार है। इस दृष्टि से 'पयस्विनी' आस्था-विमर्श को मानव-मर्यादा और सामाजिक सक्रियता के प्रश्न से जोड़ देती है।

सांस्कृतिक धरातल पर 'पयस्विनी' का योगदान समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। 'संस्कार और संस्कार गीत' में मण्डलजी मिथिला की संस्कृति, लोक-परंपरा, स्त्री की सांस्कृतिक भूमिका, जातिगत व्यवहार, मौखिक परंपरा, लोकगीत के रूपांतरण और सामाजिक इतिहास के बहुपरत पक्षों पर विचार करते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि उनके यहाँ संस्कृति कोई स्थिर, एकरेखी और निर्विवाद इकाई नहीं है। यह एक बहुस्तरीय ऐतिहासिक निर्माण है। इसके भीतर सत्ता-संबंध, लोक-सहभागिता, मूलवासी स्मृति, ब्राह्मणीकरण, सामाजिक विविधता और सामूहिक जीवन के रूप निरंतर सक्रिय रहते हैं।

संस्कार की व्यावहारिक विविधता पर उनका ध्यान इस बात की पुष्टि करता है कि वे जीवन के धरातल को शास्त्रीय आग्रह से अधिक महत्त्व देते हैं। उनके लिए संस्कृति ग्रंथ, विधि-विधान या बाहरी अनुष्ठान तक सीमित विषय नहीं है; यह लोकजीवन का अनुभव, स्त्री की स्मृति, सामुदायिक व्यवहार, श्रमशील समाज की भागीदारी और ऐतिहासिक परिवर्तन की जीवित प्रक्रिया है। फलस्वरूप वे संस्कार गीत के भीतर छिपे सामाजिक इतिहास, सामूहिक मनोविज्ञान और सांस्कृतिक रूपांतरण को पहचानते हैं। इस प्रकार 'पयस्विनी' मैथिली गद्य-परंपरा में संस्कृति-अध्ययन की विचारपूर्ण लोकधर्मी कृति के रूप में उभरती है, जो मिथिला के सांस्कृतिक

जीवन को गौरव-गान की सीमा से आगे ले जाकर आलोचनात्मक विवेक और लोकानुभव के आलोक में समझने का आधार प्रदान करती है।

सामाजिक दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक का सबसे तीक्ष्ण स्वर 'वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष' शीर्षक लेख में व्यक्त हुआ है। इस लेख में भाषिक प्रतिष्ठा से लेकर साहित्यिक प्रतिनिधित्व तक, समाज-सत्ता की संरचना, वर्गीय दूरी, जातिगत बहिष्कार, आरक्षण की विडंबना, स्त्री का प्रश्न, क्षेत्रीय भेद, सांस्कृतिक दमन और लोकतंत्रीकरण की आकांक्षा एक जटिल विमर्श-फलक रचते हैं। यहाँ मण्डलजी की दृष्टि विशेष महत्त्व ग्रहण करती है, क्योंकि वे हाशिये के समाज को असहाय, दया-योग्य या केवल करुणा का पात्र समुदाय मानकर नहीं देखते। उनके यहाँ हाशिये का समाज अपने इतिहास, श्रम, भाषा, संस्कृति, अनुभव और अस्मिता से संपन्न समाज है। वह साहित्य और सामाजिक संरचना में उचित स्थान, सम्मान, सांस्कृतिक स्वामित्व और सामाजिक न्याय का अधिकारी है।

इस लेख से जगदीश प्रसाद मण्डलजी की सामाजिक पक्षधरता स्पष्ट रूप से उद्घाटित होती है। वे बहुसंख्यक वंचित और छूटे हुए समाज के प्रश्न को मैथिली साहित्य का केंद्रीय प्रश्न बनाना चाहते हैं। उनका आग्रह है कि भाषा और साहित्य की प्रतिष्ठा तभी सार्थक होगी, जब उसके भीतर समाज का वह वर्ग भी अपने स्वर, अपने अनुभव और अपनी अस्मिता सहित उपस्थित होंगे, जिसे लंबे समय से हाशिये पर रखा गया है। इस रूप में 'पयस्विनी' सामाजिक प्रतिरोध का वैचारिक ग्रंथ बन उठती है।

यहाँ दार्शनिक प्रश्न, सांस्कृतिक पुनर्पाठ और सामाजिक प्रतिरोध अलग-अलग प्रवृत्तियों के रूप में उपस्थित नहीं हुए हैं। ये सभी एक-दूसरे को आलोकित करते हुए जगदीश प्रसाद मण्डलजी के समग्र वैचारिक व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। मिथक का प्रश्न अंततः मनुष्य की गरिमा से जुड़ता है। संस्कृति पर विचार समाज की संरचना से टकराता है। सामाजिक प्रतिरोध भाषा, स्मृति, प्रतिनिधित्व और न्याय-बोध का प्रश्न बनकर सामने आता है। इसी कारण 'पयस्विनी' में उनका चिंतन केवल विचार के स्तर पर सक्रिय नहीं रहता, लोकजीवन के पक्ष में खड़ी गंभीर सामाजिक चेतना के

रूप में विकसित होता है।

साहित्यिक-सांस्कृतिक सक्रियता के स्तर पर भी ‘पयस्विनी’ का महत्त्व कम नहीं है। ‘अंतर्राष्ट्रीय मैथिली सम्मेलन 2011, गुवाहाटी’, ‘सगर राति दीप जरय’ की 100वीं कथागोष्ठी के संबंध में, ‘वेब प्रोग्राम, 29 जुलाई 2020’ और ‘भाई राजनन्दन लाल दासजी की जीवन-यात्रा’ शीर्षक लेख इस बात का प्रमाण देते हैं कि मण्डलजी का साहित्यिक जीवन केवल व्यक्तिगत लेखन-प्रयत्न तक सीमित नहीं रहा है। वे मंच, गोष्ठी, सम्मेलन, संपादन, सार्वजनिक संवाद और डिजिटल युग के नए माध्यमों से सक्रिय रूप से जुड़े रहे हैं। इस सामग्री के कारण ‘पयस्विनी’ मैथिली साहित्य के समकालीन सार्वजनिक जीवन का महत्त्वपूर्ण अभिलेखीय दस्तावेज बन जाती है। यहाँ भाषा केवल लिखित शब्द के रूप में उपस्थित नहीं रहती; वह जीवित सामुदायिक उपस्थिति, सांस्कृतिक सहभागिता और साहित्यिक संवाद का माध्यम बन जाती है।

प्रश्नोत्तर और परिसंवाद के खंड प्रस्तुत पुस्तक के विशिष्ट महत्त्व को और बढ़ाते हैं। यहाँ मण्डलजी स्वयं अपनी वाणी में बोलते हैं, इसलिए उनके विचार, अनुभव, संवेदना और आत्मदृष्टि प्रत्यक्ष रूप से पाठक के सामने आते हैं। इन अंशों से उनकी आत्मीयता, विनम्रता, लोक-संबद्धता, गाँव-मिट्टी से जुड़ाव, भाषा-निष्ठा, साहित्य-दर्शन, नवपीढ़ी के प्रति विश्वास, दबे-कुचले समाज के प्रति प्रतिबद्धता और संवादशीलता प्रकट होती है। साहित्य समाज का दर्पण है, और समाज का बहुत बड़ा हिस्सा साहित्य में कटकर किनारे रह गया है, जैसे कथन उनके आत्मालोचनशील, सजग और जिम्मेदार साहित्यिक व्यक्तित्व के परिचायक हैं।

इसीलिए प्रश्नोत्तर और परिसंवाद के अंशों को मात्र पूरक सामग्री मानकर छोड़ देना उचित नहीं। ये अंश मण्डलजी की रचनाधर्मिता के आत्मदर्शी स्रोत के रूप में विशेष महत्त्व रखते हैं। इनमें लेखक अपनी साहित्यिक दृष्टि, सामाजिक सरोकार, भाषिक आग्रह और लोकपक्षधर चेतना को प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त करते हैं। ‘पयस्विनी’ का यह पक्ष पाठक को उनके रचना-संसार के भीतरी नैतिक आधार, वैचारिक दिशा और

सामाजिक प्रतिबद्धता को समझने का महत्त्वपूर्ण अवसर देता है।

भाषिक और शैलीगत दृष्टि से भी 'पयस्विनी' उल्लेखनीय कृति है। इसकी भाषा लोकबोली-आधारित, सजीव, संवादपरक और विचारोन्मुख है। मण्डलजी भाषा को केवल परिनिष्ठित औपचारिकता की सीमा में नहीं रखते। वे जनजीवन की लय, व्यवहार की सहजता, प्रश्न की तीक्ष्णता, उदाहरण की स्पष्टता और तर्क की क्रमबद्धता पर विश्वास करते हैं। इसलिए उनकी रचना में दार्शनिक, सांस्कृतिक और सामाजिक प्रश्न गूढ़ होते हुए भी बोझिल नहीं बनते। उनकी शैली प्रत्यक्ष है, तर्क-पद्धति प्रश्नोन्मुख है और निष्कर्ष प्रायः सामाजिक परिणति के धरातल पर पहुँचता दिखाई देता है। इस संयोजन से प्रस्तुत पुस्तक का गद्य-सौष्ठव निर्मित होता है। इसकी भाषिक सुलभता वैचारिक गहराई के विरोध में नहीं जाती, बल्कि उस गहराई को पाठक तक पहुँचाने का प्रभावी माध्यम बनती है। यही कारण है कि यह पुस्तक एक साथ पठनीय और विश्लेषणयोग्य बन उठती है।

मण्डलजी की समग्र रचनाधर्मिता के अध्ययन में 'पयस्विनी' एक व्याख्यात्मक आधार-पुस्तक का महत्त्व रखती है। इसके माध्यम से उनकी विभिन्न विधाओं में उपस्थित सामाजिक प्रतिरोध, भाषा-बोध, लोकपक्षधरता और साहित्य-दर्शन के बीच संबंध स्थापित किया जा सकता है। प्रश्नोत्तर और परिसंवाद उनके रचनात्मक निर्णयों की पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हैं, जबकि वैचारिक आलेख उनकी सामाजिक तथा सांस्कृतिक मान्यताओं को व्यवस्थित रूप देते हैं। इस कारण यह पुस्तक उनके कृतित्व की मात्र एक स्वतंत्र कड़ी न रहकर उसके समग्र मूल्यांकन की दृष्टि और पद्धति प्रदान करती है।

समग्र अध्ययन से स्पष्ट होता है कि 'पयस्विनी' आधुनिक मैथिली गद्य में विचार, समाज, संस्कृति, प्रतिरोध और संवाद को परस्पर संबद्ध रूप में प्रस्तुत करने वाली महत्त्वपूर्ण कृति है। मण्डलजी के कथा-साहित्य के पाठकों के लिए यह उनके रचना-संसार की वैचारिक पृष्ठभूमि खोलती है, जबकि शोधार्थियों को उनके सामाजिक सरोकारों, सांस्कृतिक दृष्टि और साहित्य-दर्शन के मूल्यांकन का आधार देती है। साथ ही यह पुस्तक

समकालीन मैथिल समाज के भाषिक, सांस्कृतिक और प्रतिनिधित्वगत प्रश्नों को समझने के लिए भी उपयोगी स्रोत सिद्ध होती है।

❑❑❑
❑❑
❑

Notes